

# प्राकृत साहित्य की रूप-रेखा

लेखिका  
डॉ० तारा डागा

प्रकाशक

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर  
श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर

## प्रकाशकीय

प्राकृत भाषा की गणना प्राचीन भारतीय भाषाओं में की जाती है। पिछले ढाई हजार वर्षों में इस भाषा में विपुल साहित्य की रचना हुई है। भगवान् महावीर की मूल वाणी जैन आगमों के रूप में इसी भाषा में निबद्ध है। जैन आगमों के अतिरिक्त शिलालेख, काव्य-ग्रन्थ, कथा-ग्रन्थ, चरित-काव्य, सट्टक आदि विभिन्न रचनाएँ भी इस भाषा में प्राप्य हैं। प्राचीन भारतीय सभ्यता, संस्कृति, समाज, राजनैतिक व्यवस्था आदि का यथार्थ ज्ञान कराने हेतु प्राकृत का यह साहित्य अत्यन्त उपयोगी है।

प्राकृत भाषा का प्रचार एवं प्रसार प्राकृत भारती अकादमी का मुख्य उद्देश्य रहा है। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए प्राकृत भारती अकादमी द्वारा डॉ० कमलचन्द सोगाणी के निर्देशन में प्राकृत शिक्षण की समुचित व्यवस्था की गई है। अकादमी द्वारा 'प्राकृत प्रथमा' (सर्टिफिकेट) एवं 'प्राकृत विशारद' (डिप्लोमा) ये दो पाठ्यक्रम नियमित एवं पत्राचार द्वारा संचालित किए जा रहे हैं। प्राकृत के इन पाठ्यक्रमों में सम्मिलित होने वाले विद्यार्थियों को प्राकृत भाषा के व्याकरण के साथ-साथ प्राकृत साहित्य का भी अध्ययन कराया जाता है।

प्राकृत भाषा में लिखे गये साहित्य पर पूर्व में कई विद्वानों ने विस्तार से प्रकाश डाला है, लेकिन सामान्य पाठकों के लिए तथा प्राकृत के विद्यार्थियों के लिए सरल व सुबोध शैली में लिखी कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है। अतः श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर एवं प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर द्वारा संयुक्त रूप से पुष्प संख्या 168 के रूप में प्राकृत साहित्य की रूप-रेखा को प्रकाशित किया जा रहा है। प्राकृत साहित्य का प्रारम्भिक अध्ययन करने वाले

विद्यार्थियों के लिए यह बहुत सम-सामयिक प्रकाशन है। इस पुस्तक में संक्षिप्त व सरल शैली में प्राकृत भाषा एवं उसके ग्रन्थों का प्रामाणिक परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस पुस्तक के अध्ययन से पाठकों में प्राकृत भाषा के साहित्य के प्रति रुचि जाग्रत होगी। साथ ही प्राकृत भाषा से नेट की परीक्षा देने वाले विद्यार्थियों के लिए भी यह पुस्तक उपयोगी होगी। इसकी लेखिका डॉ० तारा डागा पिछले कई वर्षों से प्राकृत-अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं से जुड़ी हुई हैं। प्राकृत साहित्य की रूप-रेखा के लिए हम उनके अत्यंत आभारी हैं।

**चम्पालाल पारख**

अध्यक्ष

श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ,  
मेवानगर

**देवेन्द्र राज मेहता**

संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक,  
प्राकृत भारती अकादमी,  
जयपुर

## भूमिका

प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से प्राकृत भाषा का साहित्य अत्यन्त उपयोगी रहा है। प्राचीन भारत में प्राकृत भाषा का जनता में सर्वत्र प्रचार था। वैदिक काल में जन-साधारण द्वारा बोली जाने वाली इस भाषा को महात्मा बुद्ध एवं भगवान् महावीर ने अपने उपदेशों का माध्यम बनाया और जनकल्याण के लिए इसी भाषा में उपदेशों की सृष्टि की। प्राचीन भारत में प्राकृत भाषा की जनभाषा के रूप में लोकप्रियता का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण शिलालेखी साहित्य है। सम्राट अशोक ने जनभाषा प्राकृत की महत्ता को देखते हुए शिलालेखों, सिक्कों एवं राजाज्ञाओं में जनभाषा प्राकृत का ही व्यवहार किया तथा जन-साधारण तक अपना संदेश पहुँचाने एवं जन-जागृति लाने के उद्देश्य से विभिन्न अभिलेख इसी भाषा में लिखवाये। प्राकृत भाषा जन-जीवन में इस कदर व्याप्त थी कि अश्वघोष, भास, कालिदास, शूद्रकादि संस्कृत के महान् कवियों ने इस भाषा को अपने नाटकों में भी स्थान दिया।

प्राचीन काल से ही प्राकृत-साहित्य में जीवन के विविध पक्षों को उद्घाटित करने वाली भावनाएँ अभिव्यंजित होती रही हैं। जनसामान्य से लेकर राजमहलों तक के जीवन एवं व्यवहार के विभिन्न क्रियाकलापों को यह साहित्य अपने में समेटे हुए है। जन-साधारण के जीवन में आने वाली विविध समस्याओं एवं उनके समाधानों को जिस सूक्ष्मता से इस साहित्य में प्रस्तुत किया गया है वैसा विश्व में अन्यत्र किसी भी भाषा के साहित्य में अप्राप्य है। कथ्य रूप से प्राकृत साहित्य कितना पुराना है इसका प्रमाण आज हमारे पास नहीं है, लेकिन वैदिक रचनाओं में उपलब्ध इस भाषा के शब्द एवं उसकी व्याकरणात्मक प्रवृत्तियाँ प्राकृत भाषा के साहित्य की प्राचीनता की द्योतक हैं।

ई. सन् की पाँचवी शताब्दी से पूर्व से ही भगवान् महावीर एवं भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों को इसी भाषा में पिरोया था। यद्यपि बुद्ध द्वारा उपदिष्ट साहित्य की भाषा को बाद में पालि का दर्जा देकर प्राकृत-साहित्य से पृथक् कर दिया गया, किन्तु कई विद्वान् पालि को प्राचीन प्राकृत ही मानते हैं। भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट जैन आगम साहित्य प्राकृत भाषा की अमूल्य धरोहर है। वैराग्य, तप, संयम, त्याग एवं सद्भावना से ओत-प्रोत यह साहित्य आध्यात्मिक सहृदयों को स्वतः अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। इस आध्यात्मिक साहित्य की महत्ता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि वीर निर्वाण के 2000 वर्षों बाद तक (16वीं शताब्दी तक) इस साहित्य पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी, टीकाएँ आदि लिखे जाते रहे हैं।

प्राकृत में जहाँ एक ओर वैराग्य एवं संयम भावना प्रधान साहित्य की सृष्टि हुई वहीं दूसरी ओर कोमल भावनाओं से युक्त मधुर एवं ललित साहित्य का भी सृजन मिलता है। वीरता, साहस, शृंगार-विलास, प्रेम-सौन्दर्य आदि भावनाओं की अभिव्यंजना की दृष्टि से प्राकृत कवियों ने अनेक उच्च-स्तरीय ललित एवं मधुर रचनाओं का सृजन कर इस भाषा को सरस बनाया है। गाथासप्तशती, वसुदेवहिण्डी, सेतुबंध, वज्जालग आदि प्राकृत साहित्य की ऐसी रचनाएँ हैं, जिनकी विश्व-साहित्य के इतिहास में कोई सानी नहीं है। इस प्रकार प्राकृत भाषा में केवल धर्मोपदेशों को उद्भूत करनेवाले धार्मिक साहित्य का प्रणयन ही नहीं हुआ, अपितु लौकिक आख्यानों, काव्यग्रंथों, नाटकों, अनेक व्याकरण, छंद, अलंकार एवं कोष ग्रंथ भी इस भाषा के साहित्य सृजन का परिणाम हैं। वर्तमान युग तक यह परम्परा अक्षुण्ण रही है।

इस प्रकार जब प्राकृत भाषा में इस विशाल साहित्य का सृजन हुआ तो विदेशी विद्वानों का ध्यान भी इस भाषा के सृजनात्मक साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने इस साहित्य के अध्ययन एवं अनुशीलन का प्रयास किया। इनमें याकोबी, विण्टरनिट्स, पिशल, शुब्रिंग, मेक्समूलर आदि उल्लेखनीय हैं। भारतीय विद्वानों में प्राकृत साहित्य को सर्वप्रथम क्रमबद्ध करने वाले विद्वान् डॉ. जगदीश चन्द्र जैन हैं। उन्होंने प्राकृत साहित्य का इतिहास में इस विशाल साहित्य का

परिचय प्रस्तुत किया है। इसके पश्चात् डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री का **प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास** एवं पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी से प्रकाशित **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास** (7 भागों में) भी प्रकाशन में आये। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्राकृत ग्रंथों के अनुवाद एवं उनकी भूमिकाओं में इस साहित्य के महत्त्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। ये सभी ग्रंथ प्राकृत भाषा के विशिष्ट विद्वानों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इन सब रचनाओं के उपरांत भी प्राकृत भाषा एवं उसके साहित्य के प्रारम्भिक अध्येताओं के लिए सरल व सुबोध भाषा में लिखी पुस्तक की आवश्यकता बना रही, जो कि प्राकृत भाषा में रचित साहित्य की संक्षिप्त रूप से जानकारी प्रदान कर सके। इसी आवश्यकता को देखते हुए उपर्युक्त ग्रंथों की मदद से **प्राकृत साहित्य की रूप-रेखा** आपके समक्ष एक प्रयास है। इस पुस्तक में प्राकृत साहित्य की विभिन्न विधाओं के प्रमुख ग्रंथों का परिचय क्रमवार प्रस्तुत किया गया है। भाषा को सरल एवं सुबोध रखा गया है, जिससे कि साधारण से साधारण पाठक को समझने में कठिनाई न हो। इसके अतिरिक्त 21वीं शताब्दी में आधुनिक पद्धति से लिखे गये कुछ प्रमुख ग्रंथों की जानकारियाँ भी इसमें प्रस्तुत की गई हैं। इस ग्रंथ की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि प्रायः सभी प्राकृत ग्रंथों के नाम **शीर्षक** में प्राकृत भाषा में दिये गये हैं, ताकि पाठक इन ग्रंथों के प्राकृत नामों से भी परिचित हो सकें। प्राकृत भाषा एवं प्राकृत साहित्य के अध्ययन-अध्यापन हेतु विभिन्न संस्थाओं द्वारा चलाये जा रहे पाठ्यक्रमों के लिए भी इसकी उपयोगिता रहेगी। जैन विद्या एवं प्राकृत से नेट एवं स्लेट देने वाले विद्यार्थियों के लिए भी यह पुस्तक उपयोगी होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। आपके सुझाव मेरे लिए बहुमूल्य होंगे।

**आभार :-**

गुरुजनों के आशीर्वाद से **प्राकृत साहित्य की रूप-रेखा** पुस्तक में प्राकृत भाषा एवं उसमें रचित साहित्य का संक्षिप्त एवं क्रमवार परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस अवसर पर सर्वप्रथम मैं उन आचार्यों, कवियों, विद्वानों एवं साहित्य सृजनकर्त्ताओं के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ, जिनकी रचनाओं का उपयोग मैंने इस पुस्तक के लेखन में किया है। साहित्य वाचस्पति

महोपाध्याय श्री विनयसागरजी के प्रति मैं विशेष रूप से कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी एक बार इस पुस्तक का अवलोकन कर मुझे बहुमूल्य सुझाव दिये। पितृतुल्य अपने गुरुजन डॉ० कमलचन्द सोगाणी का भी मैं हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने मेरे अध्ययन क्रम को सदैव बढ़ाया। मेरे प्रारंभिक गुरु डॉ० प्रेम सुमनजी का भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ, जिनकी प्रेरणा व मार्ग-दर्शन मुझे सदैव प्राप्य रहा है। इस अवसर पर मैं प्राकृत भारती अकादमी के पदाधिकारियों एवं नाकोड़ा ट्रस्ट के पदाधिकारियों का भी आभार व्यक्त करना चाहती हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशित किया। प्राकृत भारती अकादमी के प्रबन्ध सम्पादक श्री सुरेन्द्रजी बोधरा एवं प्रचार-प्रमुख श्री एम०ए० राकेशजी का भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने सदैव मेरा मार्ग-दर्शन किया। प्राकृत भारती अकादमी में संचालित होने वाले पुस्तकालय की अध्यक्ष श्रीमती रीना जैन एवं श्री विजयजी के प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने विभिन्न मुद्रित ग्रंथ उपलब्ध कराने में मेरी सदैव सहायता की। अपनी सहयोगी श्रीमती चन्द्रा बाफना एवं डॉ० विनय कुमार को भी मैं धन्यवाद देना चाहूँगी, जिन्होंने इस पुस्तक के प्रूफ संशोधन में सहायता की। अंत में मैं अपने परिवारजन विशेष रूप से अपने जीवनसाथी डॉ० सी.एस. डागा के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ, जिनके सहयोग से मुझे अध्ययन-अनुशीलन का पर्याप्त समय प्राप्त होता रहा है।

- डॉ० तारा डागा

5 झ 33, जवाहर नगर,

जयपुर

## श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ - संक्षिप्त परिचय

**इतिहास** - किंवदंतियों के आधार पर श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ की प्राचीनता का उल्लेख महाभारत काल यानि भगवान् श्री नेमीनाथ के समयकाल से जुड़ा है किन्तु आधारभूत ऐतिहासिक प्रमाण से इसकी प्राचीनता वि.सं. से 200-300 वर्ष पूर्व यानि 2200-2300 वर्ष पूर्व की मानी जा सकती है। अतः श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ राजस्थान के उन प्राचीन जैन तीर्थों में से है, जो 2000 वर्ष से भी अधिक समय से इस क्षेत्र की खेड़पट्टन व महेवानगर की ऐतिहासिक समृद्ध, सांस्कृतिक धरोहर का श्रेष्ठ प्रतीक है। महेवानगर ही पूर्व में वीरमपुर नगर के नाम से प्रसिद्ध था। वीरमसेन ने वीरमपुर तथा नाकोरसेन ने नाकोड़ा नगर बसाया था। आज भी बालोतरा-सिणधरी हाईवे पर सिणधरी गांव के पास नाकोड़ा ग्राम लूणी नदी के तट पर आया हुआ है, जिसके पास से ही इस तीर्थ के मूलनायक भगवान् श्री पार्श्वनाथजी की प्रतिमा प्राप्त हुई, जो यहाँ प्रतिष्ठित की गई और तब से यह तीर्थ नाकोड़ाजी के नाम से विश्व विख्यात है। मूलनायक श्री पार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा की पुनर्प्रतिष्ठा तीर्थ संस्थापक आचार्य श्री कीर्तिरत्नसूरिजी द्वारा वि.सं. 1502 में करवाई गई थी। यहाँ की अन्य प्रतिमाओं में से कुछ सम्राट अशोक के पौत्र सम्प्रति राजा के काल की हैं तथा कुछ पर वि.सं. 1090 व 1205 का उल्लेख है।

ऐसा भी उल्लेख प्राप्त होता है कि संवत् 1500 के आस-पास वीरमपुर नगर में 50 हजार की आबादी थी और ओसवाल जैन समाज के यहाँ पर 2700 परिवार रहते थे। व्यापार एवं व्यवसाय की दृष्टि से प्राचीन वीरमपुर नगर, वर्तमान में नाकोड़ा तीर्थ, इस क्षेत्र का प्रमुख केन्द्र रहा था।

तीर्थ ने अनेक बार उत्थान एवं पतन को आत्मसात किया है। विधर्मियों की विध्वंसनात्मक-वृत्ति ने वि.सं. 1500 के पूर्व इस क्षेत्र के कई स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट किया, जिसका दुष्प्रभाव तीर्थ पर भी हुआ। लेकिन संवत् 1502 की प्रतिष्ठा के पश्चात् यहाँ प्रगति का युग पुनः प्रारम्भ हुआ। वर्तमान में तीनों मन्दिरों का परिवर्तित व परिवर्धित रूप इसी काल से संबन्धित हैं। इसके पश्चात् क्षत्रिय राजा कुंवर द्वारा यहाँ के महाजन प्रमुख परिवार के साथ किये गये अपमानजनक व्यवहार से पीड़ित होकर समस्त जैन समाज ने इस नगर का त्याग कर दिया था। एक बार फिर इसकी कीर्ति में कमी आने लगी और धीरे-धीरे यह तीर्थ वापस सुनसान हो



गया। दुर्गमता के कारण यहाँ पर लोगों का आवागमन बन्द सा हो गया। पहाड़ों और जंगल के बीच आशातना होती रही।

संवत् 1959-60 में साध्वी प्रवर्तिनी श्री सुन्दरश्रीजी म.सा. ने इस तीर्थ के पुनरोद्धार का कार्य प्रारम्भ कराया और गुरु भ्राता आचार्य श्री हिमाचलसूरीश्वरजी भी उनके साथ जुड़ गये। इनके अथक प्रयासों से पुनर्स्थापित यह तीर्थ विकास के पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता हुआ आज विश्व भर में ख्याति प्राप्त कर चुका है।

**तीर्थस्थली** - मूलनायक श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथजी के मुख्य मन्दिर के अलावा यहाँ पर प्रथम तीर्थकर परमात्मा श्री आदिनाथ प्रभु का मंदिर एवं तीसरा मन्दिर 16वें तीर्थकर परमात्मा श्री शांतिनाथ प्रभु का है। इसके अतिरिक्त अनेक देवल-देवलिये, दादावाड़ियाँ एवं गुरु मन्दिर भी हैं, जो मूर्तिपूजक परम्परा के सभी गच्छों का एक संगठित रूप संजोये हुये हैं।

मूल मन्दिर में तीर्थ के अधिष्ठायक देव श्री भैरव देव की अत्यन्त चमत्कारिक प्रतिमा है जिसके प्रभाव से देश के कोने-कोने से लाखों यात्री प्रति वर्ष यहाँ दर्शनार्थ आकर स्वयं को कृतकृत्य अनुभव करते हैं। श्री भैरवदेव के चमत्कारिक प्रभाव से अभिप्रेत होकर अनेक भैरवदेव के नाम से अनेक धार्मिक, सामाजिक और व्यावसायिक प्रतिष्ठान स्थापित किए हैं।

तीनों मन्दिर वास्तुकला के अद्भूत नमूने हैं। चौमुखजी काँच का मन्दिर, महावीर स्मृति भवन तथा शान्तिनाथजी के मन्दिर में तीर्थकरों के पूर्व भवों के पट्ट भी अत्यन्त कलात्मक व दर्शनीय हैं। तीर्थ की विशाल भोजनशाला, नवकारसी भवन व हजारों यात्रियों के ठहरने हेतु अनेक धर्मशालाएँ, समुचित जल-व्यवस्था, विद्युत व्यवस्था, तपस्वियों हेतु आयम्बिलशाला, भाताशाला एवं स्थान-स्थान पर अनेक प्रकार के वृक्षों व पुष्पयुक्त वाटिकाएँ पर्यावरण को शुद्ध, सात्विक व मनोरम बनाती हैं।

जैनों के मूल सिद्धांत अंहिसा, जीवदया व मानव सेवा हेतु तीर्थ में विशाल गौशाला, पशु चिकित्सालय, कबूतरों व पक्षियों को दाना व्यवस्था उपलब्ध हैं। अकाल में गौशालाओं व जल संकट प्रभावी क्षेत्रों को भारी आर्थिक सहयोग तो है ही, साथ ही आपातकालीन चिकित्सा हेतु तीर्थ की ओर से एम्बुलेन्स सुविधा भी उपलब्ध हैं। तीर्थ स्थल पर आर्युर्वेदिक औषधालय, ऐलोपैथिक चिकित्सालय तथा बालोतरा में कम्प्यूटराईज्ड हौम्योपैथिक चिकित्सालय भी तीर्थ द्वारा संचालित किया जा रहा है।

**जयपुर** - नाकोड़ा ट्रस्ट द्वारा जयपुर स्थित प्राकृत भारती परिसर में श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ का शिखरबद्ध मंदिर चार वर्ष पूर्व स्थापित किया गया था। भव्य मंदिर में मूलनायक पार्श्वनाथ व नाकोड़ा भैरव की प्रतिमा हूबहू मेवानगर जैसी है साथ ही गणधर गौतम स्वामी, दादा गुरुदेव श्री जिनकुशलसूरिजी व शासन माता पद्मावती की चमत्कारिक मूर्तियाँ हैं। जो धर्मप्रेमी नाकोड़ा दर्शनार्थ नहीं जा सकते वे लोग यहीं दर्शन कर अपने आपको धन्य मान लेते हैं। मंदिर की सुचारु व्यवस्था नाकोड़ा ट्रस्ट के निर्देशन में मंदिर व्यवस्था समिति द्वारा चलायी जाती है। नाकोड़ा ट्रस्ट की ओर से मंदिर के साथ ही पूर्व निर्मित अतिथि भवन भी है जो ट्रस्टियों तथा शोधार्थियों के काम आता है।

**जोधपुर** - जोधपुर में भगवान् महावीर विकलांग सहायता समिति के कृत्रिम अंग लगाने की योजना का पूरा व्यय यह तीर्थ वहन कर रहा है। जोधपुर का अन्ध-विद्यालय, मन्द बुद्धि विद्यालय, बाड़मेर का हौम्योपैथिक चिकित्सालय, भैरूबाग, जोधपुर इत्यादि अनेक संस्थाएं तीर्थ से नियमित आर्थिक सहयोग प्राप्त करती हैं। तीर्थ ने अहमदाबाद के राजस्थान हॉस्पिटल में आपातकालीन कक्ष का निर्माण करवाया। इसके अतिरिक्त गम्भीर रोगों की महंगी चिकित्साओं हेतु तीर्थ से आर्थिक सहयोग के रूप में धनराशियाँ भी दी जाती हैं।

**ज्ञान प्रसार** - ज्ञान जैनों का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य क्षेत्र है। तीर्थ पर नवनिर्मित भवन में एक विशाल ज्ञानशाला संचालित की जा रही है। जिसमें वर्तमान में लगभग 165 छात्र धार्मिक एवं संस्कारयुक्त 6 वर्षीय पाठ्यक्रम का अध्ययन कर रहे हैं। इस ज्ञानशाला में साधु-साध्वियों के अध्ययन हेतु भी समुचित व्यवस्था हैं। तीर्थ कर्मचारियों के बच्चों को सुसंस्कारित करने हेतु तीर्थ पर ही एक संस्कारशाला भी चल रही है। तीर्थ के योगदान से स्थानीय राजकीय उच्च प्राथमिक विद्यालय का भवन निर्माण किया गया था। जोधपुर में श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ जैन महाविद्यालय तीर्थ के नाम से संचालित हो रहा है। तीर्थ द्वारा प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर के माध्यम से पुराने ग्रन्थों का अनुवाद प्रकाशन कार्य एवं दिल्ली के भोगीलाल लहरचन्द शोध संस्थान के माध्यम से जैन आगमों का अनुवाद-प्रकाशन इत्यादि भी करवाया जा रहा है। तीर्थ पर शोध सहयोगी विशाल पुस्तकालय व वाचनालय है तथा योग्यता व आवश्यकता के मापदण्ड पर उच्च व तकनीकी शिक्षा हेतु प्रतिवर्ष छात्रवृत्तियाँ भी दी जाती हैं। संस्कारयुक्त बाल साहित्यों का नगण्य मूल्य पर विक्रय किया जाता है। जैन ज्ञान वृद्धि हेतु तीन वर्ष

के पत्राचार पाठ्यक्रम वाला विश्व प्रकाश पत्राचार पाठ्यक्रम संचालित हो रहा है, जिसे अब पाँच वर्ष का करने की प्रक्रिया चल रही है।

इस तीर्थ का वैशिष्ट्य है कि दर्शनार्थी मात्र जैनी न होकर जाति व धर्म के भेदों से ऊपर उठकर सभी वर्ग के श्रद्धालु तीर्थ पर दर्शनार्थ आते हैं। चाहे बाढ़ हो या अकाल या संक्रामक बीमारियाँ अथवा अन्य प्राकृतिक आपदा जैसे तूफान तथा भूकम्प एवं राष्ट्रीय सुरक्षा आदि कार्यों में इस तीर्थ ने मानव व प्राणी मात्र की सेवा कर अपने कर्तव्यों का निर्वहन किया एवं क्षेत्र की सांस्कृतिक धरोहर को अक्षुण्ण बनाये रखा।

कला और संस्कृति की धरोहर को संजोकर रखने के लिए प्राचीन मन्दिरों के जीर्णोद्धार कराने का कार्यक्रम कई वर्षों से अबाध गति से चल रहा है।

तीर्थ की गौशाला राजस्थान में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। कुल मिलाकर तीर्थ द्वारा मानव-सेवा, शिक्षा, चिकित्सा, जीवदया, संस्कार निर्माण के अनेकानेक कार्यकलाप संचालित किये जा रहे हैं।

**शताब्दी वर्ष समारोह का आयोजन** - तीर्थ के आधुनिक विकास के 100 वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष में तीर्थ का शताब्दी वर्ष दिनांक 12/10/03 को शुभारम्भ किया गया और दो वर्ष तक धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं तीर्थ विकास के कार्यक्रमों का आयोजन किया गया। कई नई योजनाएँ बनाई गईं, जिनकी ट्रस्टमण्डल ने गत् संघ सभा से पुष्टि करवाकर क्रियान्वयन का प्रयास प्रारम्भ कर दिया है। प्रसंगानुसार कई धार्मिक कार्यक्रम खूब उल्लास एवं उमंग के साथ मनाये गये। इस अवधि में तीर्थ की ख्याति के साथ-साथ यात्रियों का आवागमन भी बढ़ा। अन्य प्रस्तावित कार्यक्रमों की क्रियान्विती भी योग्य समय पर की जायेगी। शताब्दी वर्ष की दो वर्ष की अवधि पूर्ण होने पर शताब्दी वर्ष का समापन समारोह की उद्घोषणा दिनांक 25/12/05 को सांस्कृतिक संध्या के आयोजन के साथ की गई।

चम्पालाल पारख

अध्यक्ष

श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ,

मेवानगर

## अनुक्रमणिका

क्रम	अध्याय	पृष्ठ
1.	प्राकृत का स्वरूप एवं विकास	1 - 13
2.	आगम-परम्परा	14 - 26
3.	अर्धमागधी आगम-ग्रन्थों का परिचय	27 - 59
4.	शौरसेनी आगम साहित्य	60 - 73
5.	प्राकृत के प्रमुख शिलालेख	74 - 82
6.	प्राकृत के प्रमुख काव्य-ग्रन्थ	83 - 96
7.	प्राकृत के प्रमुख कथा-ग्रन्थ	97 - 109
8.	प्राकृत के प्रमुख चरितकाव्य	110 - 119
9.	नाटक-साहित्य में प्राकृत एवं प्राकृत सट्टक	120 - 132
10.	प्राकृत-व्याकरण, छंद, अलंकार एवं कोश-ग्रन्थ सन्दर्भ ग्रन्थ	133 - 157 158 - 161

## प्राकृत का स्वरूप एवं विकास

मनुष्य के विकास के साथ-साथ भाषा भी विकसित होती चली गई। सृष्टि के प्रारम्भ में भले ही एक ही भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम रही होगी, किन्तु स्थान व कालभेद के कारण एक भाषा से अनेक भाषाओं व उपभाषाओं का जन्म होता गया, जो प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती, मराठी, बंगला आदि रूपों में हमारे सामने विद्यमान हैं। भाषा वैज्ञानिकों ने प्राकृत भाषा का सम्बंध भारतीय आर्यशाखा परिवार से माना है। विद्वानों के द्वारा भारतीय आर्य शाखा परिवार की भाषाओं के विकास को तीन युगों में विभाजित किया गया है।

1. प्राचीन भारतीय आर्य भाषाकाल ( ई.पू. 1600 से ई.पू. 600 तक)
2. मध्यकालीन आर्य भाषाकाल (ई.पू. 600 से 1000 ई. तक)
3. आधुनिक आर्य भाषाकाल (1000 ई. से वर्तमान समय तक)

प्राकृत भाषा का इन तीनों ही कालों से किसी न किसी रूप में संबंध बना रहा है। वैदिक भाषा (छांदस) प्राचीन आर्यभाषा है, जिसका विकास तत्कालीन लोकभाषा से हुआ है। प्राकृत भाषा का वैदिक भाषा के साथ गहरा सम्बन्ध है। भाषाविदों ने प्राकृत एवं वैदिक भाषा में ध्वनि-तत्त्व एवं विकास प्रक्रिया की दृष्टि से कई समानताएँ परिलक्षित की हैं। अतः प्राकृत भाषा के प्रारंभिक स्वरूप को समझने के लिए वैदिक भाषा का गहन अध्ययन आवश्यक है।

देश, काल एवं व्यक्तिगत उच्चारण के भेद के कारण जनभाषा का स्वरूप सदा परिवर्तित होता रहता है। समय के साथ-साथ विकसित हुई इस जनभाषा प्राकृत को भगवान् बुद्ध एवं भगवान् महावीर ने जनता के सांस्कृतिक उत्थान के लिए अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। फलस्वरूप मध्यकाल में दार्शनिक, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक विविधताओं से परिपूर्ण आगमिक एवं त्रिपिटक साहित्य उपलब्ध हुआ। इस युग में प्राकृत जनभाषा

के रूप में इतनी लोकप्रिय थी कि सम्राट अशोक ने उसे राजभाषा घोषित किया तथा उसी जनभाषा में अभिलेख लिखवाकर जन-जन तक अपना संदेश पहुँचाया। करीब ई.पू. 300 से लेकर 400 ई. तक के दो हजार प्राकृत लेख प्राप्त होते हैं, जो इस भाषा के विकास क्रम की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्राकृत भाषा के इस आकर्षण से प्रभावित होकर भास, शूद्रक, कालिदास आदि महाकवियों ने अपने नाटकों में इसे स्थान दिया। लोगों के सामान्य जीवन की अभिव्यक्ति करने वाली इस भाषा में महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तककाव्य आदि रचे जाने लगे। अनेक कथा-ग्रन्थों एवं चरित-काव्यों का भी निर्माण हुआ। इस साहित्य ने प्राकृत भाषा को लम्बे समय तक प्रतिष्ठित रखा।

आधुनिक आर्य भाषाकाल से भी जनभाषा प्राकृत का सम्बन्ध जुड़ा रहा। भारत के विभिन्न प्रान्तों में बोली जाने वाली जनभाषाओं को प्राकृत का ही रूपान्तरण माना जाता है।

इस प्रकार वैदिक युग, महावीर युग तथा उसके बाद के विभिन्न कालों में प्राकृत भाषा का स्वरूप क्रमशः विकसित होता चला गया। वैदिक युग में यह लोकभाषा थी। महावीर युग में अध्यात्म व सदाचार की भाषा बनी। सम्राट अशोक के काल तक राज्याश्रय को प्राप्त हुई; उत्तरोत्तर विकसित होती हुई यह भाषा काव्य जगत को अनुरंजित करती हुई साहित्यिक भाषा के गौरव को प्राप्त हुई। वर्तमान में विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं की जननी मानी जाती है।

## प्राकृत के विकास के चरण

विकास क्रम में जनभाषा प्राकृत काल, स्थान आदि भेदों के कारण नये-नये नामों एवं रूपों को धारण करती गई, लेकिन यहाँ यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि ये सभी भाषाएँ जनभाषा प्राकृत के ही विभिन्न रूपान्तरण हैं और इन सभी भाषाओं का सामान्य नाम प्राकृत ही है। यही कारण है कि नये-नये रूपान्तरों को धारण करने वाली इन जनभाषाओं के आगे प्राकृत शब्द जुड़ा रहा। यथा — प्राथमिक प्राकृत, आर्ष प्राकृत, अर्धमागधी प्राकृत, महाराष्ट्री प्राकृत, अपभ्रंश प्राकृत आदि। प्राकृत भाषा

के विकास के दो चरण हैं - (1) प्रथम स्तरीय प्राकृत (2) द्वितीय स्तरीय प्राकृत

## प्रथम स्तरीय प्राकृत

वैदिक युग से महावीर युग अर्थात् ई.पू. 1600 से ई.पू. 600 तक के समय की जनभाषा के रूप में जो प्राकृत विद्यमान थी, उसे प्रथम स्तरीय प्राकृत कहा गया है। ध्वन्यात्मक व व्याकरणात्मक सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण प्राकृत भाषा लम्बे समय तक जन-जीवन से जुड़ी रही और बोल-चाल की भाषा बनी रही। इस बोल-चाल की भाषा का साहित्य उपलब्ध नहीं है। इसके रूपों की झलक वैदिक (छांदस) साहित्य में प्राप्त होती है। प्रथम स्तर की यह प्राकृत भाषा स्वर, व्यंजन आदि के उच्चारण में वैदिक (छांदस) भाषा के अनुरूप ही थी। यहाँ तक कि छांदस साहित्य में तो महावीर युग के प्रचलित प्राकृत-व्याकरण के तत्त्वों की झलक भी देखने को मिल जाती है। अतः जनभाषा के रूप में प्रचलित प्रथम स्तरीय प्राकृत के अध्ययन व स्वरूप की जानकारी हेतु यह आवश्यक है कि वैदिक युग से महावीर युग तक के वैदिक साहित्य में प्रयुक्त हुए प्राकृत के तत्त्वों का गहराई से अध्ययन एवं विश्लेषण किया जाए।

## द्वितीय स्तरीय प्राकृत

ई.पू. 600 से ई. सन् 1200 तक जिस प्राकृत भाषा में साहित्य निबद्ध हुआ, वह द्वितीय स्तरीय प्राकृत मानी गई है। वैदिक युग में जो प्राकृत भाषाएँ जनभाषाओं के रूप में विद्यमान थीं, उनमें परवर्ती काल में अनेक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों के कारण ये भाषाएँ रूपान्तरित होती गईं और इस प्रकार द्वितीय स्तरीय विभिन्न प्राकृतों का जन्म हुआ। इन्हें तीन युगों में विभक्त किया गया है।

प्रथम युगीन प्राकृत (आदि युग) ई. पूर्व 600 से 200 ई. तक

द्वितीय युगीन प्राकृत (मध्य युग) ई. सन् 200 से 600 ई. तक

तृतीय युगीन प्राकृत (अपभ्रंश युग) 600 ई. से 1200 ई. तक

## प्रथम युगीन प्राकृत ( आदि युग )

ई.पू. 600 से ई. सन् 200 तक जिस प्राकृत भाषा में साहित्य निबद्ध किया गया, वह प्रथम युगीन प्राकृत कहलाई। इन 800 वर्षों में प्राकृत भाषा में विपुल साहित्य रचा गया। लोकभाषा परिवर्तनशील होती है। उसमें स्थान व काल के अनुसार विविधताएँ और परिवर्तन आते रहते हैं, फिर भी मूल भाषागत विशेषताएँ प्रायः समान ही रहती हैं। अतः महावीर युग से प्रारम्भ होकर अश्वघोष के नाटकों तक जो भी साहित्य इस भाषा में रचा गया, उसकी भाषा में प्रायः एकरूपता ही है। प्रथम युगीन प्राकृत में सर्वाधिक प्राचीन साहित्य उपलब्ध है। इसका वर्गीकरण इस प्रकार है—

(1) आर्ष प्राकृत (2) शिलालेखी प्राकृत (3) निया प्राकृत (4) प्राकृत—  
धम्मपद की प्राकृत (5) अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत।

### आर्ष प्राकृत

आर्ष प्राकृत से तात्पर्य बौद्ध व जैन सूत्रों की भाषा से है। प्राचीनता तथा दो महापुरुषों द्वारा प्रयुक्त किये जाने के कारण यह आर्ष प्राकृत या ऋषि भाषा कहलाई। यद्यपि द्वितीय स्तरीय प्राकृत का सबसे प्राचीन लिखित साहित्य शिलालेखी प्राकृत में मिलता है, किन्तु शिलालेख लिखे जाने से पूर्व ही बुद्ध व भगवान् महावीर ने धार्मिक प्रचार के लिए अपने उपदेशों में जनभाषा प्राकृत का प्रयोग किया, जिनका संकलन बाद में त्रिपिटकों व आगमों के रूप में किया गया। भगवान् बुद्ध के उपदेशों की भाषा पालि व भगवान् महावीर के उपदेशों की भाषा अर्धमागधी कहलाई। इस दृष्टि से पालि, अर्धमागधी आदि आगमिक प्राकृत भाषाओं को शिलालेखी प्राकृत से प्राचीन स्वीकार किया जा सकता है। आर्ष प्राकृत के तीन भेद हैं। (क) पालि (ख) अर्धमागधी (ग) शौरसेनी

### ( क ) पालि

भगवान् बुद्ध के वचनों का संग्रह जिन ग्रन्थों में हुआ है, उन्हें त्रिपिटक कहते हैं। इन त्रिपिटकों की भाषा पालि है। पालि भाषा का गठन तत्कालीन विभिन्न लोक-बोलियों के मिश्रण से हुआ है, जिनमें



मागधी प्रमुख थी। विद्वान गायगर ने पालि को आर्ष प्राकृत ही माना है। बाद में बुद्ध के उपदेशों को अलग करने के उद्देश्य से पालि शब्द का प्रयोग किया गया। पालि भाषा का साहित्य अत्यन्त समृद्ध व व्यापक है, लेकिन रूढ़िता के कारण पालि भाषा बुद्ध के उपदेशों व बौद्ध-साहित्य तक ही सीमित हो गई।

### (ख) अर्धमागधी

**समवायांगसूत्र** में यह उल्लेख है कि भगवान् महावीर ने अर्धमागधी भाषा में उपदेश दिये थे। **भगवं च णं अब्दमागहीए भासाए धम्मं आइक्खइ।** (सूत्र 34.22) महापुरुष भगवान् महावीर द्वारा प्रयुक्त किये जाने के कारण इसे ऋषि भाषा भी कहा गया है। अर्धमागधी का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है **अर्धमागध्य** अर्थात् जिसका अर्धांश मागधी कहा गया है। जैन सूत्र निशीथचूर्णि के अनुसार मगध प्रान्त के अर्धांश भाग की भाषा में निबद्ध होने के कारण प्राचीन सूत्रग्रन्थ अर्धमागध कहलाते हैं। अर्धमागधी का मूल उत्पत्ति स्थान पश्चिमी मगध तथा शूरसेन (मथुरा) का मध्यवर्ती प्रदेश अयोध्या माना गया है। इस भाषा के गठन में आधे लक्षण मागधी प्राकृत के तथा आधे अन्य प्राकृतों के विद्यमान हैं। इस कारण भी इसे अर्धमागधी कहा गया है। अकारांत पुल्लिंग शब्दों के कर्ता कारक में 'ए' (नरिंदे, देवे) का प्रयोग मागधी का लक्षण है, किन्तु 'ए' के साथ 'ओ' का प्रयोग (नरिंदो, देवो) शौरसेनी प्राकृत का लक्षण है। इस भाषा का समय ई.पू. चौथी शताब्दी तय किया गया है। आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन आदि जैन सूत्रों में अर्धमागधी का प्राचीन रूप सुरक्षित है। पद्य भाग की भाषा गद्य भाग की भाषा से अधिक आर्ष प्रतीत होती है। अर्धमागधी के प्राचीन रूप का प्रामाणिक आभास हमें अशोक के उड़ीसा प्रदेशवर्ती कालसी, जोगढ़ व धौली प्रदेशों में उत्कीर्ण प्रशस्तियों से मिलता है।

### (ग) शौरसेनी

शूरसेन प्रदेश (मथुरा) में प्रयुक्त होने वाली जनभाषा शौरसेनी के नाम से जानी गई है। इसका प्रचार मध्यदेश में अधिक हुआ था। इसका प्राचीन रूप अशोक के गिरनार के शिलालेखों में मिलता है। दिगम्बर

आगम शौरसेनी भाषा में ही लिखे गये हैं। प्राचीन आचार्यों ने षट्खण्डागम, कषायपाहुड आदि ग्रन्थों की रचना शौरसेनी प्राकृत में की है। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड आदि ग्रन्थों की भाषा शौरसेनी प्राकृत ही है। इसके पश्चात् भी कई शताब्दियों तक इसमें विशाल साहित्य की रचना होती रही है। प्राचीन संस्कृत नाटकों में अधिकांश पात्र शौरसेनी का ही प्रयोग करते हैं, अतः प्रयोग की दृष्टि से इसके दो भेद हैं। (1) शौरसेनी (2) नाटकीय शौरसेनी। कर्पूरमंजरी सट्टक नाटकीय शौरसेनी का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

## शिलालेखी प्राकृत

लिखित रूप में प्राकृत भाषा का सर्वाधिक पुरातन जो भी साहित्य उपलब्ध है, वह शिलालेखी प्राकृतों का ही है। शिलालेखी प्राकृत के प्राचीनतम रूप अशोक के शिलालेखों में प्राप्त होते हैं। ये शिलालेख लगभग ई.पू. 300 वर्ष पहले अशोक ने देश के विभिन्न भागों में खुदवाये थे। प्राकृत उस समय जनभाषा के साथ राजभाषा का दर्जा भी प्राप्त कर चुकी थी। इन शिलालेखों की दो लिपियाँ हैं— शाहबाजगढ़ी व मनसेहरा के शिलालेख खरोष्ठी में हैं तथा शेष शिलालेख ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण हैं। अशोक ने इन शिलालेखों के द्वारा जीवनमूल्यों की सुन्दर प्रतिष्ठा की है। 'प्राणानां साधु अनारम्भो अपव्ययता अपभाण्डता साधु' (तृतीय शिलालेख) अर्थात् प्राणियों की अहिंसा अच्छी है, थोड़ा खर्च व थोड़ा संग्रह अच्छा है। सम्राट अशोक के पश्चात् सम्राट खारवेल का ऐतिहासिक हाथीगुम्फा शिलालेख भी प्राकृत भाषा में प्राप्त होता है। 17 पंक्तियों का यह शिलालेख तत्कालीन शासन व्यवस्था को समझाने वाली एक राजनैतिक प्रशस्ति ही है। इसके पश्चात् चौथी शताब्दी तक के करीब 2,000 लेख प्राकृत भाषा में प्राप्त होते हैं। इनमें से कुछ एक पंक्ति में हैं तथा कुछ विस्तृत भी हैं।

प्राकृत का यह शिलालेखी साहित्य प्राचीन प्राकृत भाषाओं के अध्ययन की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। प्राकृत भाषाओं के विभिन्न रूप इसमें उपलब्ध हैं। भाषा ही नहीं सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से भी ये हमारी अमूल्य धरोहर हैं। हमारे देश भारतवर्ष के नाम का उल्लेख **भरधवस** के रूप में सर्वप्रथम खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख की दसवीं पंक्ति में

प्राप्त होता है। इसी शिलालेख में जैन नमस्कार मंत्र का प्राचीनतम लिखित रूप भी 'नमो अरहंतानं नमो सवसिधानं' के रूप में सुरक्षित है।

## निया प्राकृत

सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण प्राकृत शीघ्र ही देश-विदेशों में फैल गई। इसका प्रयोग भारत के पड़ोसी प्रान्तों में भी बढ़ गया था। इसका पता निया प्रदेशों (चीन व तुर्किस्तान) से प्राप्त लेखों की भाषा से चलता है। इस प्रदेश से प्राप्त लेखों की भाषा को निया प्राकृत कहा गया है। इन लेखों में अधिकतर लेख राजकीय विषयों से सम्बन्धित हैं। इस प्राकृत भाषा का दरदी वर्ग की तोखारी भाषा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है।

## प्राकृत-धम्मपद की प्राकृत

पालि में लिखा धम्मपद प्रसिद्ध है। प्राकृत भाषा में लिखा हुआ धम्मपद भी प्राप्त हुआ है, जिसकी लिपि खरोष्ठी है। इसका रचनाकाल 200 ई. के लगभग माना गया है। यह ग्रन्थ खण्डित रूप में प्राप्त है। इसे बी.एम. बरुआ और एस. मित्रा ने सन् 1921 में प्रकाशित किया था। वर्तमान में इसका नया संस्करण डॉ. भागचन्द्र जैन द्वारा सम्पादित किया गया है। वस्तुतः यह धम्मपद पालि त्रिपिटक में से महत्त्वपूर्ण गाथाओं का संकलन है, जिसमें बुद्ध के उपदेशों का संग्रह हुआ है। प्राकृत धम्मपद की विषयवस्तु प्रायः पालि धम्मपद से समानता रखती है। केवल पुनरावृत्ति वाली गाथाओं को इसमें से हटा कर विषय से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण गाथाएँ जोड़ दी गई हैं। इस दृष्टि से इसका महत्त्व पालि धम्मपद से अधिक हो जाता है। प्राकृत धम्मपद का अशोक के मनसेहरा और शाहबाजगढ़ी के खरोष्ठी के अभिलेखों से काफी साम्य है। इस धम्मपद की भाषा पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा से मिलती है। अतः उत्तर-पश्चिमी बोली के प्राचीन रूप को समझने की दृष्टि से प्राकृत धम्मपद का महत्त्व बहुत अधिक है।

## अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

आदियुग में प्राकृत भाषा का प्रयोग नाटक साहित्य में भी होने

लगा। ई. सन् की प्रथम शताब्दी के लगभग प्रसिद्ध नाटककार अश्वघोष ने सर्वप्रथम अपने नाटकों में प्राकृत का प्रयोग किया। अश्वघोष के शारिपुत्रप्रकरण में अर्धमागधी, मागधी एवं शौरसेनी प्राकृतों के प्राचीन रूप उपलब्ध हैं। इस नाटक की भाषा के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आगम ग्रन्थों की भाषा नवीन रूपों को ग्रहण करती हुई विकास के पथ पर अग्रसर हो रही थी।

## द्वितीय युगीन प्राकृत ( मध्य युग )

ई. सन् की द्वितीय शताब्दी से छठी शताब्दी तक जिस प्राकृत भाषा में साहित्य लिखा गया, उसे मध्य युगीन प्राकृत कहा गया है। यह युग प्राकृत भाषा व साहित्य का समृद्ध युग था। मध्य युगीन प्राकृतों में निम्न प्राकृतों की गणना की जाती है। (1) भास, शूद्रक, कालिदास आदि के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत (2) गीतिकाव्य व महाकाव्यों की प्राकृत (3) परवर्ती जैन काव्यों की प्राकृत (4) अलंकारशास्त्रियों व वैयाकरणों द्वारा निर्देशित प्राकृत (5) बृहत्कथा की पैशाची प्राकृत। महाकवि भास ने अनेक नाटक लिखे हैं। उनमें से चारुदत्त व अविमारक में प्राकृतों का सर्वाधिक प्रयोग किया है। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम् तथा मालविकाग्निमित्रम् में भी विभिन्न प्राकृतों का प्रयोग मिलता है। शूद्रक के मृच्छकटिकम् नाटक में पात्रानुसार विविध प्राकृतों का प्रयोग मिलता है। चूंकि यह लोकजीवन का प्रतिनिधि नाटक है, अतः इसमें प्रयुक्त प्राकृतों के प्रयोग में भी विविधता है। इस युग में प्राकृत में कथा, चरित, पुराण, महाकाव्य आदि भी लिखे गये। इनमें प्रयुक्त साहित्यिक प्राकृत को महाराष्ट्री प्राकृत कहा गया। इसी युग में गुणादय ने बृहत्कथा लिखी, जिसकी भाषा को पैशाची कहा गया। इस युग तक प्राकृत का सामान्य स्वरूप निश्चित हो चुका था। अतः प्राकृत के स्वतंत्र एवं निश्चित व्याकरण भी लिखे जाने लगे। चण्ड का प्राकृतलक्षण व वररुचि का प्राकृतप्रकाश इस युग के प्रमुख व्याकरण ग्रन्थ थे। इस युग के साहित्य में प्रमुख रूप से तीन प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है - (क) महाराष्ट्री (ख) मागधी (ग) पैशाची।

## ( क ) महाराष्ट्री

महाराष्ट्र प्रान्त की जनबोली से विकसित प्राकृत महाराष्ट्री कहलाई। मराठी भाषा के विकास में इस प्राकृत का महत्त्वपूर्ण योगदान है। महाराष्ट्री प्राकृत के वर्ण अधिक कोमल व मधुर प्रतीत होते हैं, अतः इस प्राकृत का काव्य में सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। महाराष्ट्री प्राकृत का साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। गाथासप्तशती, सेतुबंध, पउमचरिय, वज्जालग्ग आदि रसमय काव्यों की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत ही है। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार कालिदास ने अपने नाटकों में पद्य के लिए महाराष्ट्री प्राकृत का भी प्रयोग किया है। ईसा की प्रथम शताब्दी से वर्तमान युग तक इस प्राकृत में अनेक काव्य-ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं। निःसंदेह महाराष्ट्री प्राकृत काव्यग्रन्थों के लिए स्वीकृत एक परिनिष्ठित भाषा बन गई, जिसमें प्राकृत कवियों ने उच्चकोटि की ललित एवं मनोहर रचनाएँ लिखी हैं। प्राकृत वैयाकरणों ने भी महाराष्ट्री प्राकृत की महत्ता को देखते हुए इसके लक्षण विस्तार पूर्वक लिखकर अन्य प्राकृतों की केवल विशेषताएँ गिनाई हैं। यह सामान्य प्राकृत मानी गई है।

## ( ख ) मागधी

मगध प्रदेश की जनबोली को सामान्यतः मागधी प्राकृत कहा गया है। मागधी कुछ समय तक राजभाषा रही, अतः इसका सम्पर्क भारत की कई बोलियों के साथ रहा। इसलिए पालि, अर्धमागधी आदि प्राकृतों के विकास में मागधी प्राकृत को मूल माना जाता है। मागधी भाषा में कई लोकभाषाओं का समावेश था। इस भाषा में लिखा कोई स्वतंत्र ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। इसके प्राचीन प्रयोगों के उदाहरण अशोक के शिलालेखों में मिलते हैं। संस्कृत नाटकों में अनेक पात्र इसी भाषा का व्यवहार करते हैं। अश्वघोष एवं भास के नाटकों में मागधी के प्राचीन प्रयोग देखने को मिलते हैं। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् में मछुए, पुलिस कर्मचारी, सर्वदमन आदि पात्र मागधी प्राकृत में संवाद करते हैं।

## ( ग ) पैशाची

देश के उत्तर-पश्चिम प्रान्तों के कुछ भाग को पैशाच देश कहा जाता था। वहाँ पर विकसित जनभाषा को पैशाची प्राकृत कहा गया है। चीन व तुर्किस्तान से प्राप्त खरोष्ठी के लेखों व कुवलयमालाकहा में पैशाची की विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। यह भाषा किसी विशेष स्थान पर नहीं बोली जाती थी। यह एक जाति विशेष की भाषा थी। अतः वह जाति जहाँ-जहाँ गई, वहाँ-वहाँ अपनी भाषा भी ले गई। अलंकारशास्त्रियों ने इसे भूत भाषा कहा है। पैशाची में लिखे एक स्वतंत्र ग्रन्थ **बृहत्कथा** का उल्लेख प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ मूल रूप में प्राप्त नहीं है। इसके रूपान्तर प्राप्त हैं, जिससे इसके महत्त्व का पता चलता है।

इस प्रकार मध्य युग में प्राकृत भाषा का जितना अधिक विकास हुआ उतनी ही विविधताएँ भी आईं, किन्तु साहित्य में प्रयोग बढ़ जाने से विभिन्न प्राकृतें महाराष्ट्री प्राकृत के रूप में एकरूपता को ग्रहण करने लगी। आवश्यकता का अनुभव करते हुए वैयाकरणों ने महाराष्ट्री प्राकृत के व्याकरण के कुछ नियम तय कर दिये। अतः इस भाषा में स्थिरता आ गई। इसका सम्बन्ध जन-जीवन से कटने लगा और यह साहित्य की भाषा बन कर रह गई। छठी-सातवीं शताब्दी तक प्राकृत ने अपना जनभाषा का स्वरूप अपभ्रंश को सौंप दिया और यहीं से तृतीय युगीन प्राकृत का प्रारंभ हुआ।

## तृतीय युगीन प्राकृत ( अपभ्रंश युग )

जब जनभाषा प्राकृत परिनिष्ठित होकर साहित्यिक भाषा का रूप धारण करने लगी तथा जन-जीवन से दूर हटती गई तब जनभाषा के रूप में एक नई तृतीय युगीन प्राकृत का विकास हुआ, जिसे विद्वानों ने अपभ्रंश का नाम दिया। प्राकृत एवं अपभ्रंश इन दोनों भाषाओं का क्षेत्र प्रायः एक जैसा था तथा इनमें साहित्य-लेखन की धारा भी समान थी। विकास की दृष्टि से भी दोनों भाषाएँ जनबोलियों से विकसित हुई हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी इनमें बहुत कुछ समानताएँ हैं, किन्तु इन सब समानताओं से प्राकृत और अपभ्रंश को एक नहीं माना जा सकता है। दोनों ही स्वतंत्र

भाषाएँ हैं। दोनों की अपनी अलग पहचान है। प्राकृत में सरलता की दृष्टि से जो बाधा रह गयी थी, उसे अपभ्रंश भाषा ने दूर करने का प्रयत्न किया। कारकों, विभक्तियों, प्रत्ययों के प्रयोग में अपभ्रंश निरन्तर प्राकृत से सरल होती गयी है।

## अपभ्रंश का उद्भव और विकास

अपभ्रंश भाषा के उद्भव व विकास का भी अपना एक इतिहास है। अपभ्रंश का सर्वप्रथम प्रयोग पतंजलि के **महाभाष्य** में मिलता है। पतंजलि का समय विद्वानों ने ई. पू. 150 वर्ष माना है। पतंजलि के महाभाष्य में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किसी भाषा के वाचक के अर्थ में नहीं हुआ है, अपितु अपाणिनीय शब्दों के अर्थ में किया गया है। पतंजलि के अनुसार एक शब्द के अनेक अपभ्रंश हो सकते हैं, जैसे गौ शब्द के गावी, गोणी, गोता आदि। पतंजलि के पश्चात् ई. सन् की प्रथम शताब्दी में आचार्य भरत ने अपने **नाट्यशास्त्र** में अपभ्रंश के लिए उकारबहुला भाषा का प्रयोग किया है। भरत के नाट्यशास्त्र के साक्ष्य के आधार पर यही प्रमाणित होता है कि इस समय तक अपभ्रंश आदि भाषाएँ, जिनका प्रयोग हिमवत् प्रदेश, सिन्धु व सौवीर में होता था, साहित्यिक रूप को धारण नहीं कर सकी थी। पाँचवीं शताब्दी के आचार्य भर्तृहरि ने संस्कृत से इतर शब्दों को अपभ्रंश की संज्ञा दी है। इस प्रकार पाँचवीं शताब्दी तक संस्कृत से इतर भाषा के लिए अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है।

आधुनिक विद्वानों ने भी अपने तर्क प्रस्तुत करते हुए अपभ्रंश शब्द की सुन्दर व्याख्या की है। अपभ्रंश का अर्थ है — लोकभाषा या जनबोली। लोकभाषा में विभिन्न क्षेत्रों में एक ही अर्थ के लिए विभिन्न शब्द प्रयोग होते थे, जैसे संस्कृत शब्द माता के लिए लोकभाषाओं में मातु, माई, माया, मावो आदि शब्द प्रयुक्त होते थे। शब्दों का यह नया रूप ग्रहण करना लोकजीवन की जीवन्तता का द्योतक है। यह शब्दों का दूषण नहीं भूषण है। यही कारण है कि छठी शताब्दी के अलंकारशास्त्री भामह ने अपने ग्रन्थ **काव्यालंकार** में अपभ्रंश को काव्यशैलियों की भाषा कहा है। स्पष्ट है कि जो अपभ्रंश शब्द ई. पूर्व द्वितीय शताब्दी तक अपाणिनीय शब्दों के लिए प्रयुक्त होता था, वही छठी शताब्दी तक आते-आते साहित्यिक अभिव्यक्ति

के एक सशक्त माध्यम की भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा। छठी शताब्दी के अलंकारशास्त्री आचार्य दण्डी ने अपने ग्रन्थ **काव्यादर्श** में अपभ्रंश को वाङ्मय के एक प्रकार के रूप में स्वीकार किया है तथा अपभ्रंश में प्रयुक्त होने वाले छंदों का भी निर्देश किया है। 8वीं शताब्दी के कथाकार उद्योतनसूरि ने **कुवलयमालाकहा** में अपभ्रंश भाषा की प्रशंसा करते हुए उसे 'मनोहर' कहा है। 8वीं शताब्दी तक अपभ्रंश का साहित्य पूर्ण विकसित हो चुका था। अपभ्रंश को स्वयंभू जैसा प्रतिभाशाली कवि प्राप्त हो गया, जिसने भारतीय वाङ्मय के इतिहास में विपुल अपभ्रंश साहित्य की रचना कर अपभ्रंश-युग का प्रवर्तन किया। 10वीं शताब्दी में महाकवि पुष्पदंत ने अपभ्रंश प्रबंध-काव्यों की परम्परा को और भी अधिक पुष्पित व पल्लवित किया। इसी परम्परा में धनपाल, वीर, नयनंदी, कनकामर आदि कवि हुए हैं, जिन्होंने अपभ्रंश को गौरवशाली पद पर प्रतिष्ठित रखा। 12वीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र ने अपभ्रंश के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य करके उसे अमर बना दिया। उन्होंने **सिद्धहेमशब्दानुशासन** के आठवें अध्ययन के चतुर्थ पाद में अपभ्रंश व्याकरण के सूत्रों की रचना कर अपभ्रंश के साहित्यिक स्वरूप को तय कर दिया। इन सूत्रों में नियमों को समझाने के लिए उदाहरण के रूप में जो अपभ्रंश के दोहे संकलित हुए हैं, वे आज अपभ्रंश साहित्य की अनमोल निधि हैं। इन संकलित दोहों का काव्यात्मक सौन्दर्य अनुपम व बेजोड़ है। अर्थात् 12वीं शताब्दी में अपभ्रंश लोकभाषा का पद छोड़कर साहित्यिक भाषा के पद को ग्रहण कर चुकी थी और व्याकरण के नियमों में बंध चुकी थी। आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् महाकवि 'रङ्गधू' (15वीं शताब्दी) तक अपभ्रंश भाषा में विशाल साहित्य का सृजन होता रहा।

इस प्रकार अपभ्रंश में काव्यरचनाएँ छठी शताब्दी से आरम्भ होकर लगभग 16वीं शताब्दी तक चलती रही। लेकिन अपभ्रंश का विकास काल 12वीं शताब्दी तक ही माना गया है। 12वीं शताब्दी के बाद की रचनाओं में हिन्दी का रंग दृष्टिगोचर होने लगा, जिसे विद्वानों ने परवर्ती अपभ्रंश का नाम दिया। परवर्ती अपभ्रंश की रचनाओं में **नेमिनाथचउपई, कीर्तिलता, पृथ्वीराजरासो, विद्यापतिपदावली** आदि प्रमुख हैं। एक ओर परवर्ती अपभ्रंश की रचनाएँ धीरे-धीरे विभिन्न नवीन भाषाओं के मिश्रण से नये-नये रूपों



को धारण करती गई और दूसरी ओर आधुनिक भारतीय भाषाओं का उदय व विकास अपभ्रंश के गर्भ में होता चला गया। प्राचीन रूपों का ह्रास व नवीन रूपों की उत्पत्ति इसी क्रम में आधुनिक भारतीय भाषाओं का उदय हुआ। अपनी अन्तिम अवस्था में अपभ्रंश ने अपनी सारी प्रवृत्तियाँ क्षेत्रिय भाषाओं को सौंप दी। स्पष्ट है कि अपभ्रंश भाषा ही हिन्दी व अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विकास के मूल में है। हिन्दी को तो अपभ्रंश की साक्षात् उत्तराधिकारिणी भाषा माना जाता है। इस सम्बन्ध में शंभूनाथ पाण्डेय ने लिखा है कि “अपभ्रंश और हिन्दी का संबंध अत्यन्त गहरा और समृद्ध है। वे एक दूसरे की पूरक हैं। हिन्दी को ठीक से समझने के लिए अपभ्रंश की जानकारी आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। हिन्दी ही नहीं, अन्य नव्य भारतीय आर्यभाषाओं की आधारशिला अपभ्रंश ही है। उसी की कोख से इन भाषाओं का विकास हुआ है।”

### सहायक ग्रन्थ

1. अपभ्रंश : एक परिचय — ले. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर
2. अपभ्रंश—साहित्य : परम्परा और प्रवृत्तियाँ — ले. डॉ. राजवंश सहाय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
3. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — ले. डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी
4. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण — ले. डॉ. आर. पिशल, अ. डॉ. हेमचन्द्र जोशी, बिहार—राष्ट्रभाषा—परिषद, पटना
5. प्राकृत साहित्य का इतिहास — ले. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
6. प्राकृत स्वयं—शिक्षक—ले. डॉ. प्रेमसुमन जैन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर



## आगम-परम्परा

### तीर्थकर महावीर के उपदेश व आगम

जैन परम्परा में तीर्थकरों के द्वारा समय-समय पर आत्मकल्याण के लिए उपदेश दिये जाते रहे हैं। यद्यपि सभी तीर्थकरों के उपदेशों में प्रायः साम्यता होती है, एकरूपता होती है, इसलिए आप्तवाणी को अनादि व अनंत कहा गया है, किन्तु अन्तिम तीर्थकर के उपदेशों को ही आगम के रूप में स्वीकार कर जैन संघ की शासन व्यवस्था चलती है। इस दृष्टि से भगवान् महावीर की जो उपदेशवाणी थी, उसी को आगमों के रूप में स्वीकार किया गया है। वर्तमान में जो श्रुत उपलब्ध है, वह भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट है। उन्होंने जो कुछ भी अपने श्रीमुख से कहा, वह गणधरों द्वारा ग्रन्थ के रूप में गूँथा गया। अर्थागम तीर्थकरों का होता है और ग्रन्थ के रूप में शब्द-शरीर की रचना गणधर करते हैं। सर्वज्ञ होने के पश्चात् भगवान् महावीर द्वारा जनकल्याण की भावना से जो धर्मदेशना दी गई उस अर्थागम रूप धर्मदेशना को गणधरों द्वारा सूत्रागम के रूप में ग्रथित किया गया। श्रुत की वह प्रवाहमय ज्ञानराशि आज आगम ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध है।

### आगम शब्द का अर्थ

'आगम' का शाब्दिक अर्थ है - पदार्थ के रहस्य का परिपूर्ण ज्ञान। आचारांग में आगम शब्द का प्रयोग जानने या ज्ञान के अर्थ में हुआ है। स्थानांग व भगवतीसूत्र में प्रमाण के चार भेदों में चौथा भेद आगम स्वीकार किया गया है। यहाँ आगम शब्द का प्रयोग प्रमाण ज्ञान के अर्थ में हुआ है। समय-समय पर आचार्यों ने आगम की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ भी दी हैं। आगम की सर्वाधिक लोकप्रिय परिभाषा है, 'आप्तोपदेशः शब्दः' अर्थात् आप्त का कथन आगम है; या आप्त-वचन से उत्पन्न अर्थज्ञान आगम है। जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया है, वे तीर्थकर, सर्वज्ञ, जिन, वीतराग भगवान् ही आप्त हैं तथा उनके उपदेश या उनकी वाणी आगम कहलाती है।

जैन परम्परा में आगम ग्रन्थ साक्षात् तीर्थंकर के कथन के समान माने गये हैं, चाहे वे गणधरकृत हों या श्रुतकेवली स्थविरकृत हों। दोनों में ही पदार्थ के रहस्य पर प्रकाश डाला गया है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु कहते हैं कि "तप-नियम-ज्ञान रूपी वृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर अनंतज्ञानी केवली भगवान् भव्यात्माओं के विबोध के लिए ज्ञान-कुसुमों की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि-पट में उन सकल कुसुमों को झेलकर प्रवचन-माला गूँथते हैं।" अर्थात् तीर्थंकर केवल अर्थरूप में उपदेश देते हैं, गणधर उसे ग्रन्थबद्ध या सूत्रबद्ध करते हैं।

### वर्तमान द्वादशांगी के रचयिता - सुधर्मा

जैन अनुश्रुति के अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर के काल में द्वादशांगी की रचना होती है। सभी तीर्थंकर जन-कल्याण के लिए अर्थ रूप में अपनी देशना देते हैं तथा उनके शिष्य गणधर शासन के हितार्थ उस अर्थ रूप देशना को अपनी शैली में सूत्रबद्ध करके द्वादशांगी की रचना करते हैं। वह द्वादशांगी प्रत्येक तीर्थंकर के काल में प्रचलित एवं मान्य होती है। वर्तमान अवसर्पिणीकाल के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर द्वारा भी जो धर्म देशना दी गई थी, उसे उनके गौतम प्रभृति ग्यारह प्रबुद्ध गणधरों द्वारा पृथक-पृथक स्वतंत्र रूप से द्वादशांगी के रूप में सूत्रबद्ध किया गया। लेकिन अन्य 10 गणधर आर्य सुधर्मा के निर्वाण से पूर्व ही अपने गण उन्हें सौंपकर निर्वाण प्राप्त कर चुके थे। अतः आर्य सुधर्मा द्वारा संकलित द्वादशांगी ही प्रचलित रही। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वर्तमान में जो एकादशांगी (दृष्टिवाद लुप्त हो चुका है) प्रचलित है, वह आर्य सुधर्मा द्वारा संकलित है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए आचारांग, समवायांग, स्थानांग आदि सूत्रों में अनेक प्रमाण मिलते हैं। इन सूत्र ग्रन्थों में आर्य जम्बू समय-समय पर अपने गुरु सुधर्मा से अनेक प्रश्न पूछते हैं। उनका उत्तर देते समय सुधर्मा द्वारा **सुयं मे आउसं! तेण भगवया एवमक्खायं.....** अर्थात् हे आयुष्मान! (जम्बू) मेरे द्वारा सुना गया है कि उन भगवान् महावीर द्वारा इस प्रकार कहा गया है। इस प्रकार की शब्दावली द्वारा विवेच्य विषय का निरूपण किया गया है।

## पूर्व साहित्य

जैनागमों का प्राचीनतम वर्गीकरण समवायांगसूत्र में प्राप्त होता है। वहाँ साहित्य को दो भागों में विभाजित किया गया है – पूर्व व अंग। पूर्व की संख्या चौदह तथा अंग की संख्या बारह बताई गई है। पूर्वश्रुत जैन आगम साहित्य की अनुपम ज्ञान-निधि है। कोई भी ऐसा विषय नहीं, जिसकी चर्चा इनमें न की गई हो। पूर्व साहित्य के काल को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ चिंतकों की यह धारणा है कि पूर्व-ग्रन्थ भगवान् पार्श्वनाथ की श्रुत परम्परा से सम्बन्धित हैं, अतः श्रमण भगवान् महावीर से पूर्ववर्ती होने के कारण इन ग्रन्थों का नाम पूर्व पड़ा। आचार्य अभयदेवसूरि आदि के मतानुसार द्वादशांगी से पहले पूर्व श्रुत निर्मित किया गया था, अतः उसका नाम पूर्व पड़ा। इन दोनों ही मतों से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि पूर्वों की रचना द्वादशांगवाणी से पहले की है। वर्तमान समय में पूर्व श्रुत द्वादशांगी से पृथक नहीं माना जाता है। द्वादशांग में दृष्टिवाद बारहवाँ अंग था। उसका एक विभाग पूर्वगत है। चौदह पूर्व इसी पूर्वगत के अन्तर्गत हैं। नंदीसूत्र में चौदह पूर्वों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं –

- |                           |                       |                      |
|---------------------------|-----------------------|----------------------|
| 1. उत्पादपूर्व            | 2. अग्रायणीयपूर्व     | 3. वीर्यप्रवादपूर्व  |
| 4. अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व | 5. ज्ञानप्रवादपूर्व   | 6. सत्यप्रवादपूर्व   |
| 7. आत्मप्रवादपूर्व        | 8. कर्मप्रवादपूर्व    | 9. प्रत्याख्यानपूर्व |
| 10. विद्यानुप्रवादपूर्व   | 11. अवध्यपूर्व        | 12. प्राणायुपूर्व    |
| 13. क्रियाविशालपूर्व      | 14. लोकबिन्दुसारपूर्व |                      |

इन चौदह पूर्वों में भगवान् महावीर से पूर्व की अनेक विचारधाराओं, मत-मतान्तरों तथा ज्ञान-विज्ञान का संकलन उनके शिष्य गणधरों द्वारा किया गया था। जैन परम्परा के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर ने सर्वप्रथम पूर्वगत अर्थ का निरूपण किया था और उसे ही गौतम प्रभृति गणधरों ने पूर्वश्रुत के रूप में निर्मित किया था। पूर्वगत श्रुत अत्यंत क्लिष्ट और गहन था, उसे साधारण अध्येता समझ नहीं सकता था, इसलिए अल्प मेधावी व्यक्तियों के लिए आचारांग आदि अन्य अंगों की रचना की गई। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने लिखा है कि दृष्टिवाद में समस्त

शब्द ज्ञान का समावेश हो जाता है, तथापि ग्यारह अंगों की रचना अल्प मेधावी पुरुषों और महिलाओं के लिए की गई। जो श्रमण प्रबल प्रतिभा के धनी होते थे, वे पूर्वों का अध्ययन करते थे और जिनमें प्रतिभा की तेजस्विता नहीं होती थी, वे ग्यारह अंगों का अध्ययन करते थे। आगम साहित्य में पूर्वों का अध्ययन करने वाले तथा ग्यारह अंगों का अध्ययन करने वाले दोनों ही प्रकार के साधकों का वर्णन मिलता है। जब तक आचारांग आदि ग्रन्थों की रचना नहीं हुई थी, उससे पहले रचे गये चतुर्दशशास्त्र चौदह पूर्व के नाम से विख्यात हुए। पूर्व ज्ञान के आधार पर द्वादशांगी की रचना हुई, फिर भी पूर्वज्ञान को छोड़ देना संभवतः आचार्यों को ठीक प्रतीत नहीं हुआ। अतः बारहवें अंग दृष्टिवाद में उस ज्ञान को सन्निविष्ट कर दिया गया। दृष्टिवाद पाँच भागों में विभक्त है —

1. परिकर्म
2. सूत्र
3. पूर्वानुयोग
4. पूर्व
5. चूलिका। चौथे विभाग पूर्व में 'चौदह पूर्व' के ज्ञान का समावेश है। इस दृष्टि से जो चतुर्दशपूर्वी होते हैं, वे द्वादशांगी के ज्ञाता भी होते हैं। इस प्रकार अंग साहित्य की रचना के बाद चौदह पूर्वों को बारहवें अंग 'दृष्टिवाद' का नाम दे दिया गया। दुर्भाग्यवश यह पूर्व साहित्य सुरक्षित नहीं रहा। समस्त चौदह पूर्वों के अन्तिमज्ञाता श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। इनके बाद पूर्व श्रुत का विच्छेद प्रारंभ हो गया।

## आगम-विच्छेद क्रम

वस्तुतः भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद आगमों की मौखिक परम्परा ही चलती रही। धीरे-धीरे योग्य शिष्यों के अभाव में तथा अनेक प्राकृतिक आपदाओं के कारण धर्मशास्त्रों का स्वाध्याय करना दुष्कर हो गया और आगमों का क्रमशः विच्छेद होना प्रारम्भ हो गया। वस्तुस्थिति यह है कि द्वादशांगी का बहुत बड़ा भाग काल के दुष्प्रभाव से लुप्त हो चुका है। श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ इस बात को एक मत से स्वीकार करती हैं कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी थे, जो चतुर्दशपूर्व के ज्ञाता थे। इनके समय में भयंकर अकाल पड़ा तथा जैन मत भी श्वेताम्बर व दिगम्बर दो भागों में विभाजित होने लगा। इसके साथ ही आगमों का विच्छेद क्रम प्रारंभ हो गया। श्वेताम्बर परम्परा वीरनिर्वाण के 170 वर्ष बाद

तथा दिगम्बर परम्परा वीरनिर्वाण के 162 वर्ष बाद भद्रबाहु का स्वर्गवास काल मानती है। भद्रबाहु के स्वर्गवास के बाद चतुर्दशपूर्वधर आचार्यों का लोप हो गया। केवल दशपूर्वधर आचार्य रह गये। दशपूर्वधर आचार्यों की परम्परा स्थूलिभद्र से आचार्य वज्रस्वामी तक चली। वे वीरनिर्वाण संवत् 551 में स्वर्ग सिधारे। इसके बाद दशपूर्वधर आचार्य भी नहीं रहे। मालवणियाजी ने अपनी पुस्तक में यह माना है कि आचार्य वज्रसेन का स्वर्गवास वीर निर्वाण के 584 वर्ष बाद हुआ और तभी से दसपूर्वों का विच्छेद हो गया। दिगम्बर परम्परा यह स्वीकार करती है कि अन्तिम दसपूर्वों के ज्ञाता आचार्य धर्मसेन हुए हैं तथा वीर निर्वाण के 345 वर्ष बाद दशपूर्वधर आचार्य नहीं रहे। इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में चतुर्दशपूर्वधर व दशपूर्वधर दोनों का ही विच्छेद क्रम श्वेताम्बर परम्परा से पहले ही स्वीकार किया गया है।

### आगम वाचनाएँ

भगवान् महावीर ने अर्थरूप में जो उपदेश दिये, गणधरों ने उन्हें सूत्ररूप में गूँथा और इस तरह जैन वाङ्मय की परम्परा का प्रारम्भ हुआ। यह ज्ञानराशि मौखिक रूप से गुरु परम्परा से शिष्यों को प्राप्त होती रही। धीरे-धीरे समय, काल व परिस्थितियों के अनुसार इन्हें याद रखना कठिन हो गया और आगमों का विच्छेद क्रम प्रारम्भ हो गया। अतः आगमों को सुरक्षित रखने के लिए समय-समय पर श्रमणों द्वारा विभिन्न सम्मेलन बुलाये गये तथा उन्हें लिखित रूप प्रदान किया गया। आज जो आगम ग्रन्थ हमें उपलब्ध हैं, वे इन्हीं वाचनाओं का परिणाम हैं।

**प्रथम वाचना** - वीर निर्वाण के 160 वर्षों बाद पाटलिपुत्र में द्वादशवर्षीय भीषण दुष्काल पड़ा, जिसके कारण श्रमण संघ छिन्न-भिन्न हो गया। अनेक बहुश्रुतधर श्रमण आयु पूर्ण कर गये। ऐसी स्थिति में जैन संघ को अपने साहित्य की चिन्ता हुई। अकाल की समाप्ति के पश्चात् श्रमणसंघ आचार्य स्थूलिभद्र के नेतृत्व में पाटलिपुत्र में इकट्ठा हुआ। वहाँ पर स्मृति के आधार पर एकादश अंगों को व्यवस्थित किया गया। बारहवां अंग दृष्टिवाद किसी को भी स्मरण नहीं था, अतः उसका संग्रह नहीं किया जा सका। बाद में भद्रबाहु द्वारा स्थूलिभद्र को दसपूर्वों की अर्थ सहित तथा शेष चार पूर्वों की शब्दरूप वाचना दी गई।

**द्वितीय वाचना** - आगम संकलन का दूसरा प्रयास ईसा पूर्व प्रथम-द्वितीय शताब्दी अर्थात् वीर निर्वाण के 300-330 वर्ष के मध्य सम्राट खारवेल के समय में हुआ। सम्राट खारवेल जैन-धर्म के परम उपासक थे। उनके हाथीगुम्फा अभिलेख से स्पष्ट है कि उन्होंने उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर जैन मुनियों का एक संघ बुलाया और मौर्यकाल में जो अंग विस्मृत हो गये थे, उनका पुनः उद्धार करवाया। 'हिमवंत थेरावली' नामक प्राकृत-संस्कृत मिश्रित पट्टावली में भी स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख है कि सम्राट खारवेल ने प्रवचन का उद्धार करवाया था।

**तृतीय वाचना** - आगमों को संकलित करने हेतु तीसरी वाचना वीर-निर्वाण के 827-840 वर्षोपरान्त अर्थात् ईसा की तीसरी शताब्दी में आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में हुई। यह सम्मेलन मथुरा में होने के कारण माथुरीवाचना के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि इस समय भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, जिसके कारण श्रुत तथा श्रुतवेत्ता दोनों ही नष्ट हो गये। दुर्भिक्ष की समाप्ति पर युग-प्रधान आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में आगम-वेत्ता मुनि इकट्ठे हुए, जिन्हें जैसा स्मरण था, उस आधार पर श्रुत का संकलन किया गया। उस समय आचार्य स्कन्दिल ही एक मात्र अनुयोगधर थे। उन्होंने उपस्थित श्रमणों को अनुयोग की वाचना दी। इस दृष्टि से सम्पूर्ण अनुयोग स्कन्दिल सम्बन्धी माना गया, और यह वाचना स्कन्दिल वाचना के नाम से जानी गई।

**चतुर्थ वाचना** - माथुरीवाचना के समय के आस-पास ही वल्लभी में नागार्जुन की अध्यक्षता में दक्षिण-पश्चिम में विचरण करने वाले श्रमणों की एक वाचना हुई, जिसका उद्देश्य विस्मृत श्रुत को व्यवस्थित करना था। उपस्थित मुनियों की स्मृति के आधार पर जितना उपलब्ध हो सका, वह सारा वाङ्मय सुव्यवस्थित किया गया। नागार्जुनसूरि ने समागत साधुओं को वाचना दी, अतः यह नागार्जुनीय वाचना के नाम से प्रसिद्ध हुई। चूर्णियों में नागार्जुन नाम से पाठान्तर मिलते हैं। **पणवणा** जैसे अंगबाह्य सूत्रों में भी इनका निर्देश है।

**पंचम वाचना** - वीर निर्वाण के 980 वर्षों बाद जब विशाल ज्ञान राशि को स्मृत रखना मुशकिल हो गया था, श्रुत साहित्य का अधिकांश भाग नष्ट हो

चुका था, तब वीर निर्वाण के 980 से 993 के बीच देवद्विगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में श्रमणसंघ पुनः वल्लभी में एकत्रित हुआ। स्मृति में शेष सभी आगमों को संकलित कर पुस्तकारूढ करने का प्रयत्न किया गया। पुस्तकारूढ करने का यह प्रथम प्रयास था। इसमें मथुरा व वल्लभी वाचना का समन्वय कर उसमें एकरूपता लाने का प्रयास किया गया। जहाँ मतभेद था, वहाँ माथुरी वाचना को मूल में स्थान देकर वल्लभी वाचना के पाठों को पाठान्तर में स्थान दे दिया गया। यह आगमों की अन्तिम वाचना थी। इसके बाद आगमों की सर्वमान्य कोई वाचना नहीं हुई।

## आगम लेखन

जैन परम्परा का विराट साहित्य चौदह पूर्वों व बारह अंगों में संचित था, किन्तु यह साहित्य लिपिबद्ध नहीं था। वीर निर्वाण संवत् 827-840 में मथुरा तथा वल्लभी में जो सम्मेलन हुए, उनमें एकादश अंगों को व्यवस्थित किया गया। उस समय आर्यरक्षित ने अनुयोगद्वारसूत्र की रचना की। उसमें द्रव्यश्रुत के लिए **पत्तय पोत्थयलिहिय** शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे पूर्व आगम लिखने का प्रमाण नहीं मिलता है। इससे यह पता चलता है कि श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण की 9वीं शताब्दी के अन्त में आगमों के लेखन की परम्परा चली, परन्तु आगमों को लिपिबद्ध करने का स्पष्ट संकेत देवद्विगणि क्षमाश्रमण के समय से मिलता है। इस प्रकार आगम लेखन युग का प्रारंभ हम ईसा की 5वीं शताब्दी मान सकते हैं।

## आगमों की भाषा

जैनागमों की मूल भाषा अर्धमागधी है। यह देववाणी मानी गई है। भगवतीसूत्र में गौतम द्वारा यह प्रश्न करने पर कि देव किस भाषा में बोलते हैं? भगवान् महावीर द्वारा उत्तर दिया गया कि देव अर्धमागधी भाषा में बोलते हैं तथा सभी भाषाओं में अर्धमागधी भाषा श्रेष्ठ व विशिष्ट है—**गोयमा! देवाणं अद्धमागहीए भासाए भासंति..... ( 5.4.24 )** समवायांग व औपपातिकसूत्र के अनुसार भी तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में उपदेश देते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि चरित्र की



साधना—आराधना करने के इच्छुक मंद बुद्धि स्त्री—पुरुषों पर अनुग्रह करने के लिए सर्वज्ञ भगवान् आगमों का उपदेश प्राकृत में देते हैं। प्रज्ञापनासूत्र में इस भाषा को बोलने वाले को भाषार्य कहा है। मगध के अर्धभाग में बोली जाने के कारण तथा मागधी व देशज शब्दों के सम्मिश्रण के कारण यह अर्धमागधी कहलाती है।

## आगमों का वर्गीकरण

विभिन्न परम्पराओं में आगमों का वर्गीकरण अलग—अलग प्राप्त होता है।

(क) सर्वप्रथम समवायांगसूत्र में आगमों का वर्गीकरण प्राप्त होता है। वहाँ पूर्वों की संख्या चौदह व अंगों की संख्या बारह बताई गई है।

(ख) आगमों का दूसरा वर्गीकरण नंदीसूत्र में मिलता है, इसमें आगमों को अंग प्रविष्ट व अंग बाह्य इन दो भागों में विभक्त किया गया है।

**अंग प्रविष्ट** - अंग प्रविष्ट वह है, जो गणधर के द्वारा प्रश्न करने पर तीर्थकरों द्वारा प्रतिपादित हो, गणधरों द्वारा सूत्र रूप में गूँथा गया हो तथा ध्रुव व अचल हो। यही कारण है कि समवायांग व नंदीसूत्र में द्वादशांग को ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित व नित्य कहा है।

**अंग बाह्य** - अंग बाह्य बिना प्रश्न किये तीर्थकरों द्वारा प्रतिपादित होता है तथा स्थविरकृत होता है। आचार्य अकलंक ने कहा है कि आरातीय आचार्यों के द्वारा निर्मित आगम अंगप्रतिपादित अर्थ के निकट या अनुकूल होने के कारण अंग बाह्य कहलाते हैं। समवायांग और अनुयोगद्वार में तो केवल द्वादशांगी का ही निरूपण है, किन्तु नंदीसूत्र में अंगप्रविष्ट के साथ अंगबाह्य के भेदों का भी विस्तार किया गया है।

(ग) अनुयोगों की दृष्टि से आर्यरक्षित ने सभी आगम ग्रन्थों को चार भागों में विभक्त किया है। यह वर्गीकरण विषय—सादृश्य की दृष्टि से किया गया है। यथा -

1. चरणकरणानुयोग - कालिकश्रुत, महाकल्प, छेदश्रुत आदि
2. धर्मकथानुयोग - ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन आदि

3. गणितानुयोग - सूर्यप्रज्ञप्ति आदि  
 4. द्रव्यानुयोग - दृष्टिवाद आदि

(घ) जैन आगमों का सबसे उत्तरवर्ती वर्गीकरण अंग, उपांग, मूलसूत्र व छेदसूत्र के रूप में **प्रभावक चरित** में मिलता है। यह वि. संवत् 1334 (ई.सन् 1277) की रचना है। इसी वर्गीकरण के आधार पर आगम साहित्य का मूल्यांकन विद्वानों ने किया है।

## विभिन्न जैन-सम्प्रदायों में मान्य आगम

वर्तमान में जैन धर्म के प्रमुख चार सम्प्रदाय हैं - श्वेताम्बरमूर्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरापन्थ एवं दिगम्बर। श्वेताम्बरमूर्तिपूजक सम्प्रदाय में 45 आगम मान्य हैं। स्थानकवासी एवं तेरापन्थ सम्प्रदाय 32 आगमों को मान्यता देते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार पूर्वधर आचार्यों द्वारा रचित षट्खण्डागम, कषायपाहुड़ आदि ग्रन्थ ही आगम हैं। इन सभी सम्प्रदायों में मान्य आगम ग्रन्थों का उल्लेख विभिन्न आचार्यों एवं विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में किया है।

### श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में मान्य 45 आगम

इस सम्प्रदाय में सम्मिलित खरतरगच्छ, तपोगच्छ आदि सभी उपसम्प्रदायों में 45 आगम मान्य हैं। इन 45 आगमों में 11 अंग, 12 उपांग, 10 प्रकीर्णक, 6 छेदसूत्र, 4 मूलसूत्र एवं 2 चूलिका सूत्रों की गणना की जाती है। इनके हिन्दी एवं प्राकृत भाषा के नाम नीचे दिए जा रहे हैं। कोष्ठकवर्ती नाम प्राकृतभाषा में हैं।

### 11 अंग

- |  |                         |
|--|-------------------------|
| 1. आचारांग (आयारो)                                   | 2. सूत्रकृतांग (सूयगडो) |
| 3. स्थानांग (ठाण)                                    | 4. समवायांग (समवाओ)     |
| 5. भगवती / व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवई / वियाहपण्णत्ती) |                         |
| 6. ज्ञाताधर्मकथा (णायाधम्मकहाओ)                      | 7. उपासकदशा (उवासगदसाओ) |
| 8. अन्तकृद्दशा (अंतगडदसाओ)                           |                         |

9. अनुत्तरौपपातिकदशा (अनुत्तरोववाइयदसाओ)

10. प्रश्नव्याकरण (पण्हावागरणाइं)

11. विपाकसूत्र (विवागसुयं)

**नोट** - दृष्टिवाद नामक 12वाँ अंग उपलब्ध नहीं है। इसका उल्लेख नन्दीसूत्र, समवायांग एवं स्थानांगसूत्र में मिलता है।

## 12 उपांग

1. औपपातिक (उववाइयं)

2. राजप्रश्नीय (रायपसेणइयं)

3. जीवाजीवाभिगम (जीवाजीवाभिगमो)

4. प्रज्ञापना (पण्णवणा)

5. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (जम्बुद्वीवपण्णत्ती)

6. चन्द्रप्रज्ञप्ति (चंदपण्णत्ती)

7. सूर्यप्रज्ञप्ति (सूरपण्णत्ती)

8. निरयावलिका (निरयावलिया)

9. कल्पावतंसिका (कप्पवडंसिया)

10. पुष्पिका (पुप्फिया)

11. पुष्पचूलिका (पुप्फचूला)

12. वृष्णिदशा (वण्हिदसा)

## 10 प्रकीर्णक

1. चतुःशरण (चउसरणं)

2. आतुरप्रत्याख्यान (आउरपच्चक्खाणं)

3. भक्तपरिज्ञा (भत्तपरिण्णा)

4. संस्तारक (संथारओ)

5. तंदुलवैचारिक (तंडुलवेयालियं)

6. चन्द्रवेध्यक (चंदावेज्झयं)

7. देवेन्द्रस्तव (देविंदत्थओ)

8. गणिविद्या (गणिविज्जा)

9. महाप्रत्याख्यान (महापच्चक्खाणं)

10. वीरस्तव (वीरत्थओ)

**नोट** - कहीं कहीं पर वीरस्तव के स्थान पर इस गणना में मरणसमाहि का नाम लिया जाता है।

## 6 छेदसूत्र

1. दशाश्रुतस्कन्ध (आयारदसाओ)

2. बृहत्कल्प (कप्पो)

3. व्यवहार (ववहारो)

4. निशीथसूत्र (निसीहं)

5. महानिशीथ (महानिसीहं)

6. जीतकल्प (जीयकप्पो)

**नोट** - 'कल्पसूत्र' 'बृहत्कल्पसूत्र' से भिन्न ग्रन्थ है। कल्पसूत्र दशाश्रुतस्कन्ध का ही एक भाग है, जो दशाश्रुतस्कन्ध के आठवें अध्ययन से विकसित हुआ है।

## 4 मूलसूत्र

मूलसूत्रों की संख्या एवं नामों के संबंध में श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में एकरूपता नहीं है। प्रायः निम्नांकित 4 मूलसूत्र माने जाते हैं-

- |                                |   |
|--------------------------------|---|
| 1. उत्तराध्ययन (उत्तरज्झयणाइं) | 2. दशवैकालिक (दसवेयालियं)   |
| 3. आवश्यक (आवस्सयं)            | 4. पिण्डनिर्युक्ति-ओघनिर्युक्ति<br>(पिण्डणिज्जुत्ती-ओहणिज्जुत्ती) |

**नोट** - कुछ आचार्य 'पिण्डनिर्युक्ति-ओघनिर्युक्ति' इन दोनों सूत्रों को अलग-अलग भी मानते हैं।

## 2 चूलिका सूत्र

- |                            |                                |
|----------------------------|--------------------------------|
| 1. नन्दीसूत्र (नंदिसुत्तं) | 2. अनुयोगद्वार (अणुओगद्वाराइं) |
|----------------------------|--------------------------------|

**स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदायों द्वारा मान्य 32 आगम**

इन दोनों सम्प्रदायों में 11 अंग, 12 उपांग, 4 मूल, 4 छेदसूत्र एवं 1 आवश्यकसूत्र मिलाकर 32 आगम स्वीकृत हैं।

## 11 अंग

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक द्वारा मान्य सभी अंग सूत्र।

## 12 उपांग

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक द्वारा मान्य सभी उपांग सूत्र।

## 4 मूलसूत्र

- |                                |                                |
|--------------------------------|--------------------------------|
| 1. उत्तराध्ययन (उत्तरज्झयणाइं) | 2. दशवैकालिक (दसवेयालियं)      |
| 3. नन्दीसूत्र (नंदिसुत्तं)     | 4. अनुयोगद्वार (अणुओगद्वाराइं) |

## 4 छेदसूत्र

1. दशाश्रुतस्कन्ध (आयारदसाओ)
2. बृहत्कल्प (कप्पो)
3. व्यवहार (ववहारो)
4. निशीथसूत्र (निशीहं)

**बत्तीसवाँ सूत्र - आवश्यकसूत्र (आवस्सय)**

### दिगम्बर सम्प्रदाय में मान्य आगम

दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य ग्रन्थ हरिवंशपुराण एवं धवलाटीका में 12 अंगों एवं 14 अंगबाह्यों का उल्लेख है। अंगबाह्यों में सर्वप्रथम सामायिक आदि छः आवश्यकों का उल्लेख है, तत्पश्चात् दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पिकाकल्पिक; महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक एवं निशीथ का उल्लेख है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार उपर्युक्त 12 अंगों एवं 14 अंगबाह्यों का लोप हो गया है। इसलिए दिगम्बर जैन सम्प्रदाय पूर्वधर आचार्यों एवं परवर्ती आचार्यों द्वारा रचित जिन ग्रन्थों को आगम की श्रेणी में रखते हैं, उनमें से प्रमुख नाम निम्न हैं—

1. षट्खण्डागम (छकखंडागमो)
2. कषायप्राभृत (कसायपाहुडं)
3. आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ - समयसार (समयसारो), प्रवचनसार (पवयणसारो), पंचास्तिकाय (पंचत्थिकायो), नियमसार (नियमसारो), अष्टपाहुड (अट्टपाहुडं) आदि
4. त्रिलोकप्रज्ञप्ति (तिलोयपण्णत्ती)
5. भगवती आराधना (भगवदी आराधणा)
6. मूलाचार (मूलायारो)
7. अन्य ग्रन्थ - गोम्मटसार, क्षपणसार, लोकविभाग आदि।

ये सभी आगम श्रेणी के दिगम्बर ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध हैं, जिनकी रचना विभिन्न आचार्यों के द्वारा हुई है।

श्वेताम्बर परम्परा के अर्धमागधी प्राकृत में लिखित आगम ग्रन्थ एवं दिगम्बर परम्परा के शौरसेनी प्राकृत में रचित आगम ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

### सहायक ग्रन्थ

1. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा - ले. देवेन्द्रमुनि शास्त्री, तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर
2. जैनागम दिग्दर्शन - ले. नगराज मुनि, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
3. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग 1) - ले. बेचरदास दोशी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
4. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा (खण्ड 2) - ले. डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री, ज्योतिषाचार्य, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, सागर (मध्यप्रदेश)
5. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-ले. डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी
6. प्राकृत साहित्य का इतिहास - ले. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
7. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान - ले. डॉ. हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद, भोपाल
8. जिनवाणी (जैनागम साहित्य-विशेषांक 2002 अंक 1, 2, 3, 4) - सं. डॉ. धर्मचन्द्र जैन, सम्यग्ज्ञान, प्रचारक मण्डल, जयपुर



## अर्धमागधी आगम-ग्रन्थों का परिचय

अर्धमागधी आगम साहित्य के ग्रन्थ विभिन्न स्थानों से हिन्दी, गुजराती अनुवाद के साथ प्रकाशित हुए हैं। इन आगम ग्रन्थों का आलोडन व मंथन कर विभिन्न विद्वानों एवं आचार्यों द्वारा समय-समय पर उनकी समीक्षा भी प्रस्तुत की गई है। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर अर्धमागधी आगम साहित्य का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

### अंग

अर्थ रूप में तीर्थकर प्ररूपित तथा सूत्र रूप में गणधर ग्रथित वाङ्मय अंग वाङ्मय के रूप में जाना जाता है। जैन परम्परा में 'अंग' का प्रयोग द्वादशांग रूप गणिपिटक के अर्थ में हुआ है — **दुवालसंगे गणिपिडगे (समवायांग)** नंदीसूत्र की चूर्णि में श्रुतपुरुष की सुन्दर कल्पना करते हुए पुरुष के शरीर के अंगों की तरह श्रुतपुरुष के बारह अंगों को स्वीकार किया गया है— **इच्चेतस्स सुत्तपुरिसस्स जं सुत्तं अंगभागगठितं तं अंगपविट्ठं भणइ । (नन्दी चूर्णि, पृ. 47)** इस प्रकार अंगों की संख्या बारह स्वीकार की गई है। वर्तमान में दृष्टिवाद के लुप्त हो जाने के कारण 11 अंग ही उपलब्ध हैं। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

### आयारो

द्वादशांगी में आचारांग का प्रथम स्थान है। आचारांग निर्युक्ति में आचारांग को अंगों का सार कहा गया है — **अंगाणं किं सारो! आयारो । (गा. 16)** निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने लिखा है कि तीर्थकर भगवान् सर्वप्रथम आचारांग का और उसके पश्चात् शेष अंगों का प्रवर्तन करते हैं। प्रस्तुत आगम दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में 9 अध्ययन हैं, लेकिन महापरिज्ञा नामक सातवें अध्ययन के लुप्त हो जाने के कारण

वर्तमान में इसमें 8 अध्ययन तथा 44 उद्देशक हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध चूलिका के नाम से प्रसिद्ध है, जो चार चूलिका व 16 अध्ययनों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों में जीव-हिंसा का निषेध, कर्मबंधन से मुक्ति, परीषहों पर विजय, रत्नत्रय की महत्ता तथा तप व संयम द्वारा शुद्धात्मरूप की प्राप्ति का विवेचन किया गया है। आचारांग के नवें अध्ययन 'उपधान' में भगवान् महावीर की तपस्या व साधना का विस्तृत वर्णन हुआ है। आचारांग का महत्त्वपूर्ण उद्बोधन अहिंसा व असंगता है अर्थात् समस्त प्राणी जगत के प्रति समत्वभाव की अनुभूति एवं राग-द्वेष आदि आंतरिक कषायों पर विजय प्राप्ति ही विशुद्ध आचार है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में समणों के आचार का विवेचन है। चार चूलिकाओं में विभक्त इस श्रुतस्कन्ध में श्रमणों की आहार-चर्चा, शय्या, चलने की प्रक्रिया, वस्त्र व पात्रग्रहण, ठहरने के स्थान आदि पर प्रकाश डाला गया है। पाँचवीं चूलिका विस्तृत होने के कारण निशीथसूत्र के नाम से अलग कर दी गई है। आचारांग पर भद्रबाहु की निर्युक्ति जिनदासगणि की चूर्णि व शीलाकाचार्य की (876 ई) की वृत्ति भी है। आचारांग के अध्ययन से ही श्रमणधर्म का परिज्ञान होता है, अतः आचार-धर को प्रथम गणिस्थान कहा गया है।

## सूयगडो

सूत्रकृतांग दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त एक दार्शनिक ग्रन्थ है। सूत्रकृतांग के सूतगड, सुत्तकड व सूयगड नाम भी प्रचलित हैं। समवायांग में सूत्रकृतांग का परिचय देते हुए लिखा गया है कि इसमें स्वमत, परमत, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष आदि तत्त्वों का विश्लेषण है एवं नवदीक्षितों के लिए बोध वचन हैं। सूत्रकृतांग एक विशुद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है, जिसमें मुख्य रूप से 180 क्रियावादी, 84 अक्रियावादी, 67 अज्ञानवादी एवं 32 विनयवादी मतों की चर्चा करते हुए उनका निरासन किया गया है तथा अन्य मतों का परित्याग कर शुद्ध श्रमणाचार का पालन करने का संदेश दिया गया है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के 16 अध्ययनों में स्वसमय, परसमय, परीषहजय, कषायजय, नरकों के दुःख, महावीर की स्तुति, परिग्रह त्याग, उत्तम



साधु के लक्षण, माहण, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रथ शब्दों की व्युत्पत्ति भली प्रकार से व्याख्या कर उदाहरणों एवं रूपकों द्वारा समझाई गई है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में 7 अध्ययन हैं, जिनमें परमतों के खण्डन के साथ-साथ श्रमणों के आचार का प्रतिपादन हुआ है। जीव व शरीर के एकत्व, ईश्वर कर्तृत्व, नियतिवाद, आहार दोष, भिक्षादोष आदि पर विशेष प्रकाश डाला गया है। अन्तिम अध्ययन 'नालन्दीय' में नालन्दा में हुए गौतम गणधर और पार्श्वनाथ के शिष्य पेढालपुत्र का मधुर संभाषण वर्णित है। इसमें पेढालपुत्र गौतम गणधर से प्रतिबोध पाकर चातुर्याम धर्म को छोड़कर भगवान् महावीर के पास पंच महाव्रत रूप धर्म को अंगीकार करता है। उस युग की जो दार्शनिक दृष्टियाँ थीं, उनकी जानकारी तो इस आगम से मिलती ही है साथ ही ऐतिहासिक व सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह हमारी अनुपम धरोहर है।

## ठाणं

द्वादशांगी में स्थानांग का तीसरा स्थान है। प्रस्तुत ग्रन्थ में 10 अध्ययन हैं। इस आगम में विषय को प्रधानता न देकर संख्या को प्रधानता दी गई है। प्रत्येक अध्ययन में अध्ययन की संख्यानुक्रम के आधार पर जैन सिद्धान्तानुसार वस्तु-संख्याएँ गिनाते हुए उनका वर्णन किया गया है। जैसे प्रथम अध्ययन में एक आत्मा, एक चरित्र, एक समय, एक दर्शन आदि। दूसरे अध्ययन में दो क्रियाएँ—जीव क्रिया व अजीव क्रिया, आत्मा के दो भेद—सिद्ध व संसारी आदि का निरूपण किया गया है। इस प्रकार 10वें अध्ययन तक यह वस्तु वर्णन 10 की संख्या तक पहुँच गया। स्थानांगसूत्र के अध्ययन स्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन स्थानों में तत्त्वज्ञान, आचार-विवेचन, ज्ञान-मीमांसा, स्वसमय और परसमय, श्रद्धा, भक्ति, धर्म, दर्शन, आत्मा, जीव, जगत, परमात्मा, विविध महापुरुषों के नाम, तीर्थंकर, कुलकर, गणधर, चक्रवर्ती आदि के उल्लेख, परिग्रह, अपरिग्रह, हिंसा, अहिंसा सब कुछ समाहित है। पदार्थ विवेचन द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव दृष्टि से किया गया है। वस्तुतः यह ग्रन्थ कोश शैली में है, अतः स्मरण रखने की दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

## समवायो

समवायांग का द्वादशांगी में चतुर्थ स्थान है। समवायांग वृत्ति में लिखा है कि इसमें जीव-अजीव आदि पदार्थों का समवतार है, अतः इस आगम का नाम समवायो है। स्थानांग के समान समवायांग भी संख्या शैली में रचा गया है, किन्तु इसमें एक से प्रारंभ होकर कोटानुकोटि की संख्या तक के तथ्यों का समवाय के रूप में संकलन है। नंदीसूत्र में समवाय की विषय सूची इस प्रकार दी गई है - (1) जीव, अजीव, लोक, अलोक, स्व-समय और पर-समय का समवतार, (2) एक से सौ संख्या तक का विकास, (3) द्वादशांगी गणपिटक का वर्णन। इस ग्रन्थ में क्रम से पृथ्वी, आकाश, पाताल, तीनों लोकों के जीव आदि समस्त तत्त्वों का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से एक से लेकर कोटानुकोटि संख्या तक परिचय दिया गया है। आध्यात्मिक तत्त्वों, तीर्थकरों, गणधरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों और वासुदेवों से संबन्धित वर्णनों के साथ भूगोल, खगोल आदि की सामग्री का संकलन भी किया गया है। 72 कलाओं, 18 लिपियों आदि का भी इसमें उल्लेख है। वस्तुतः जैन सिद्धान्त, वस्तु-विज्ञान, व जैन इतिहास की दृष्टि से यह आगम अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

## वियाहपण्णत्ती

द्वादशांगी में व्याख्याप्रज्ञप्ति का पाँचवां स्थान है। प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गये इस आगम ग्रन्थ में गौतम गणधर, अन्य शिष्य वर्ग एवं श्रावक-श्राविका आदि द्वारा जिज्ञासु भाव से पूछे गये प्रश्नों के उत्तर भगवान् महावीर ने अपने श्रीमुख से दिये हैं। इसी कारण सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान से भरे हुए इस ग्रन्थ को विद्वानों द्वारा शास्त्रराज कहकर सम्बोधित किया गया है। नन्दी व समवायांग के अनुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति में 36000 प्रश्नों का व्याकरण है, किन्तु वर्तमान समय में इसमें 41 शतक ही हैं, जो 1925 उद्देशकों में विभक्त हैं। प्रश्नों के विवेचन क्रम में तत्त्वज्ञान, ज्ञान-मीमांसा, आचार, अन्य दार्शनिक मत, विभिन्न ऐतिहासिक व्यक्ति एवं घटनाओं का विस्तार से विवेचन है। इस अपेक्षा से यह ग्रन्थ प्राचीन जैन ज्ञान का विश्वकोश भी कहा जाता है। अन्य आगमों की अपेक्षा इसकी विषय-वस्तु बहुत अधिक विशाल है। ज्ञान की कोई ऐसी धारा नहीं,

जिसका प्रवाह इसमें न हुआ हो। जीव-अजीव, लोक-अलोक, स्वसमय-परसमय आदि समस्त विषय इसमें समाहित हैं। जनमानस में इस आगम के प्रति विशेष श्रद्धा होने के कारण इसका दूसरा नाम **भगवती** अधिक प्रचलित है। प्रश्नोत्तर शैली में निबद्ध इस ग्रन्थ में प्रायः प्रश्नों का उत्तर देने में अनेकांतवाद व स्याद्वाद का सहारा लिया गया है। प्रश्नों को कतिपय खंडों में विभक्त कर उत्तर दिया गया है। यथा -

गौतम - भन्ते, जीव सकम्प हैं या निष्कम्प?

भगवान् महावीर - गौतम, जीव सकम्प भी हैं और निष्कम्प भी।

गौतम - इसका क्या कारण?

भगवान् महावीर - जीव दो प्रकार के हैं - संसारी और मुक्त।

मुक्त जीव के दो प्रकार हैं -

अनन्तरसिद्ध और परम्परसिद्ध। परम्परसिद्ध तो निष्कम्प हैं और अनन्तरसिद्ध सकम्प।

संसारी जीवों के भी दो प्रकार हैं - शैलेशीप्रतिपन्नक और अशैलेशीप्रतिपन्नक। शैलेशीप्रतिपन्नक जीव निष्कम्प होते हैं और अशैलेशीप्रतिपन्नक सकम्प होते हैं। (25.4.81)

इस दृष्टि से जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त अनेकान्तवाद, नयवाद, स्याद्वाद व सप्तभंगी का प्रारंभिक स्वरूप भी इस ग्रन्थ में सुरक्षित है।

## गायाधम्मकहाओ

द्वादशांगी में ज्ञाताधर्मकथा का छठा स्थान है। यह आगम दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। वस्तुतः ज्ञाताधर्मकथा में विभिन्न ज्ञात अर्थात् उदाहरणों तथा धर्मकथाओं के माध्यम से जैन धर्म के तत्त्व-दर्शन को समझाया गया है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में ज्ञातकथाएँ एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध में धर्मकथाएँ हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में 19 अध्ययन हैं, जिनमें न्याय, नीति आदि के सामान्य नियमों को दृष्टान्तों द्वारा समझाने का प्रयत्न किया गया है। इस श्रुतस्कन्ध में वर्णित कथाएँ लौकिक, ऐतिहासिक व काल्पनिक सभी प्रकार की हैं। रोहिणीज्ञात विशुद्ध लौकिक कथा है, जिसमें ससुर अपनी

चार बहुओं की परीक्षा लेकर सबसे बुद्धिमान बहू को कुटुम्ब का मुखिया नियुक्त करता है। मेघकुमार, द्रौपदी, मल्ली आदि के कथानक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों को लिए हुए हैं। तुम्बा, कुम्मे, मयूरी के अंडे, नंदीफल आदि कथाएँ रूपक शैली में हैं, जिनके द्वारा भव्य जीवों को प्रतिबोध दिया गया है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में 10 अध्ययन हैं। इनमें प्रायः स्वर्ग के इन्द्रों जैसे—चमरेन्द्र, असुरेन्द्र, चन्द्र, सूर्य, ईशानादि की अग्रमहिषियों के रूप में उत्पन्न होने वाली पुण्यशाली स्त्रियों की कथाएँ हैं। इन कथाओं के माध्यम से संयम साधना की श्रेष्ठता का विवेचन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में तत्कालीन समाज व संस्कृति का सुन्दर चित्रण हुआ है।

## उवासगदसाओ

द्वादशांगी में उपासकदशांग का सातवाँ स्थान है। यह सूत्र धर्मकथानुयोग के रूप में प्रस्तुत हुआ है। भगवान् महावीर युग के दस उपासकों के पवित्र चरित्र का इसमें वर्णन है, जिन्होंने प्रभु महावीर के धर्म उपदेशों से प्रभावित होकर अपने जीवन को सार्थक कर दिया। अतः इसका नाम उपासकदशांग सार्थक प्रतीत होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में एक श्रुतस्कन्ध व दस अध्ययन हैं। इन दस अध्ययनों में क्रमशः आनन्द, कामदेव, चुलणीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकोलिक, सकडालपुत्र, महाशतक, नंदिनीपिता और शालिनीपिता श्रमणोपासकों के कथानक हैं। उपासकदशांग में वर्णित ये दसों उपासक विभिन्न जाति और विभिन्न व्यवसाय करने वाले थे। इनके कथानकों द्वारा जैन गृहस्थों के द्वारा पालनीय धार्मिक नियम समझाये गये हैं। इनकी जीवनचर्या के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि धर्म का पालन करने में अनेक विघ्न व प्रलोभन सामने आते हैं, लेकिन श्रावक जीवन में रहकर भी परीषहों को सहन कर विभिन्न साधनाएँ की जा सकती हैं। अंगसूत्र में यह एक मात्र सूत्र है, जिसमें सम्पूर्णतया श्रावकाचार का निरूपण हुआ है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ आचारांग का पूरक है, क्योंकि आचारांग में मुनिधर्म का विस्तृत वर्णन हुआ है और इसमें श्रावकधर्म का विस्तार से निरूपण किया गया है।

## अंतगडदसाओ

अन्तकृद्दशासूत्र का द्वादशांगी में आठवाँ स्थान है। एक श्रुतस्कन्ध वाला यह आगम आठ वर्गों में विभक्त है। प्रथम पाँच वर्गों के कथानकों का सम्बन्ध अरिष्टनेमि के साथ और शेष तीन वर्गों के कथानकों का सम्बन्ध भगवान् महावीर और श्रेणिक राजा के साथ है। इसमें 90 उन महान् आत्माओं का वर्णन है, जिन्होंने घोर तप एवं आत्म-साधना द्वारा कर्मों का अन्त करके केवलज्ञान प्राप्त किया, इसलिए वे अन्तकृत कहलाए। उन महान् आत्माओं के नगर, उद्यान, चैत्य, धन-वैभव, माता-पिता, परिजनों, दीक्षाग्रहण, श्रुत-ज्ञान की साधना, घोर तप व मुक्ति प्राप्ति का इसमें वर्णन है। यह सम्पूर्ण आगम भौतिकता पर आध्यात्मिक विजय का संदेश प्रदान करता है। सर्वत्र तप की उत्कृष्ट साधना दिखलाई देती है। इसमें भगवान् महावीर ने उपवास व ध्यान दोनों को ही क्रमशः बाह्य व आन्तरिक तप के रूप में स्वीकार किया है। इस श्रुतांग में कोई भी कथानक पूर्ण रूप से वर्णित नहीं है। 'वण्णवो' व 'जाव' शब्दों द्वारा अधिकांश वर्णन व्याख्याप्रज्ञप्ति अथवा ज्ञाताधर्मकथा से पूरा करने की सूचना मात्र है। इस आगम के तृतीय वर्ग के आठवें अध्ययन में देवकी पुत्र गजसुकुमाल एवं छठें वर्ग के तीसरे अध्ययन में अर्जुन मालाकार के महत्त्वपूर्ण कथानक आए हैं। प्रस्तुत आगम में श्रीकृष्ण के बहुमुखी व्यक्तित्व का भी विस्तार से निरूपण हुआ है।

## अनुत्तरोववाइयदसाओ

अनुत्तरौपपातिकदशा का द्वादशांगी में नवाँ स्थान है। इस आगम ग्रन्थ में महावीरकालीन उन उग्र तपस्वियों का वर्णन हुआ है, जिन्होंने अपनी धर्म-साधना द्वारा मरण कर अनुत्तर स्वर्ग विमानों में जन्म लिया, जहाँ से केवल एक बार ही मनुष्य योनि में आने से मोक्ष प्राप्ति हो जाती है। वर्तमान में यह ग्रन्थ तीन वर्ग व तैंतीस अध्ययनों में विभक्त है। इसमें 33 महान् आत्माओं का संक्षेप में वर्णन है। इनमें से 23 राजकुमार तो सम्राट श्रेणिक के पुत्र हैं तथा शेष 10 भद्रा सार्थवाही के पुत्र हैं। इन दोनों के एक-एक पुत्र के जीवनवृत्त का वर्णन विस्तार से करते हुए शेष पुत्रों के चरित्रों को उनके समान कहकर सूचित कर दिया गया है। इस प्रकार

प्रथम वर्ग में धारिणी पुत्र 'जालि' तथा तीसरे वर्ग में भद्रा पुत्र 'धन्य' का चरित्र विस्तार से वर्णित है। मुनि बनने के बाद धन्य ने जो तपस्या की वह अद्भुत एवं अनुपम है। तपोमय जीवन का इतना सुन्दर एवं सर्वांगीण वर्णन श्रमण साहित्य में तो क्या, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता है। इस आगम के अध्ययन से महावीरकालीन सामाजिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों से भी अवगत हुआ जा सकता है।

### पण्हावागरणाइं

द्वादशांगी में प्रश्नव्याकरणसूत्र का दसवाँ स्थान है। समवायांग, नन्दी, व अनुयोगद्वारसूत्र में प्रश्नव्याकरण के लिए 'पण्हावागरणाइं' शब्द मिलता है। इसका शाब्दिक अर्थ है — 'प्रश्नों का व्याकरण' अर्थात् निर्वचन, उत्तर एवं निर्णय। इन ग्रन्थों में प्रश्नव्याकरणसूत्र में दिव्य-विद्याओं, लब्धियों, अतिशयों आदि से सम्बन्धित जिस विषय सामग्री से युक्त प्रश्नों का उल्लेख किया गया है, वर्तमान समय में वह सामग्री इस ग्रन्थ में तनिक भी नहीं प्राप्त है। संभवतः वर्तमान समय में कोई इस सामग्री का दुरुपयोग न करे, अतः इन विषयों को निकालकर इस ग्रन्थ में आस्रव व संवर के वर्णन का समावेश कर दिया गया है। यह आगम दो खण्डों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः मन के रोगों का उल्लेख व उनकी चिकित्सा का विवेचन किया गया है। प्रथम खण्ड में उन रोगों के नाम बताये गये हैं — हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह। द्वितीय खण्ड में इन रोगों की चिकित्सा बताई गई है — अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। आस्रव और संवर का निरूपण व विश्लेषण इस आगम ग्रन्थ में जिस विस्तार से किया गया है, वह अनूठा व अद्भुत है।

### विवागसुयं

विपाकसूत्र का द्वादशांगी में ग्यारहवाँ स्थान है। विपाक का अर्थ है— फल या परिणाम। यह आगम दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है — (1) सुख विपाक (2) दुःख विपाक। इनमें प्राणियों द्वारा किये गये सुकृत और दुष्कृत कर्मों के फल को दिखाने के लिए 20 कथाएँ आई हैं। इन कथाओं के माध्यम से यही समझाने का प्रयत्न किया गया है कि जिन जीवों ने पूर्वभवों

में विविध पाप—कृत्य किए हैं, उन्हें आगामी जीवन में दारुण वेदनाएँ प्राप्त हुई तथा जिन्होंने पूर्वभवों में सुकृत किये उन्हें पुण्य स्वरूप सुख उपलब्ध हुआ। कर्म सिद्धान्त जैन दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का दार्शनिक विश्लेषण तो इस ग्रन्थ में नहीं मिलता है, किन्तु कथाओं के माध्यम से कर्मसिद्धान्त का जिस प्रकार सूक्ष्म व सम्यक् प्रतिपादन किया गया है, वह असाधारण है। प्रथम श्रुतस्कन्ध दुःख विपाक के दस अध्ययनों में अशुभ कर्मों का फल दिखाने के लिए मृगापुत्र, उज्जित, अभग्गसेन, शकट, बृहस्पतिदत्त, नंदीवर्धन, उम्बरदत्त शौर्यदत्त, देवदत्ता व अंजुश्री के कथानक वर्णित हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध सुखविपाक में शुभकर्मों का फल दिखाने हेतु सुबाहु, भद्रनन्दी, सुजातकुमार, सुवासवकुमार, जिनदास, धनपति, महाबल, भद्रनन्दीकुमार, महाचन्द्र कुमार और वरदत्त कुमार के कथानक वर्णित हैं। आयुर्वेद की दृष्टि से यह शास्त्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें नाना व्याधियों के औषध व उपचार का वर्णन हुआ है। विपाकसूत्र मूलतः मानव जीवन की यात्रा के उतार—चढ़ाव को दर्शाता है। सामाजिक दृष्टि से पुरातन मान्यताओं, प्रवृत्तियों, प्रथाओं एवं अपराधों का भी परिचय प्राप्त होता है।

## दिड्ढिवायो

दृष्टिवाद बारहवाँ अंग है। इसमें संसार के सभी दर्शनों एवं नयों का निरूपण किया गया है। दृष्टिवाद अब विलुप्त हो चुका है। श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गवास के पश्चात्, दृष्टिवाद का धीरे—धीरे लोप होने लगा तथा देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गवास के बाद यह शब्द रूप से पूर्णतया नष्ट हो गया। अर्थरूप में कुछ अंश बचा रहा। समवायांग व नन्दीसूत्र में इसके पाँच विभाग बताये गये हैं — परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। षट्खण्डागम, कषायपाहुड आदि शौरसेनी दिगम्बर आगम ग्रन्थ इसी दृष्टिवाद अंग के स्मृत ज्ञान पर आधारित माने गये हैं।

## उपांग

ऐसा माना जाता है कि मूल बारह अंग ग्रन्थों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए उपांगों की रचना हुई। उपांग शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग

उमास्वाति ने किया। जैन आगम साहित्य दो भागों में विभक्त है, अंग प्रविष्ट में बारह अंग आते हैं, जो गणधरकृत माने जाते हैं। उपांग का समावेश अंग बाह्य में किया गया है। ये स्थविरकृत माने गये हैं। जैन वाङ्मय में इनका महत्त्व अंग साहित्य से कुछ कम नहीं है। उपांग बारह माने गये हैं। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है।

## उववाइयं

औपपातिकसूत्र जैन वाङ्मय का प्रथम उपांग है। इसके दो अध्ययन हैं – समवसरण व उपपात। अभयदेवसूरि ने वृत्ति में लिखा है कि उपपात अर्थात् देव और नारकियों के जन्म या सिद्धिगमन का वर्णन होने से प्रस्तुत आगम का नाम औपपातिक है। इसमें विभिन्न सम्प्रदायों के तापसों, परिव्राजकों, श्रमणों आदि को उनकी साधनाओं के द्वारा प्राप्त होने वाले भवान्तरों का मार्मिक वर्णन हुआ है। इस ग्रन्थ में एक ओर जहाँ धार्मिक व दार्शनिक विवेचन मिलते हैं, वहीं दूसरी ओर राजनैतिक, सामाजिक तथा नागरिक तथ्यों की चर्चा भी हुई है। यह आगम वर्णन प्रधान शैली में रचित है। चम्पा नगरी, वनखण्ड, चैत्य, राजा, रानी आदि के वर्णनों की दृष्टि से यह अन्य आगमों के लिए सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में जाना जाता है। जिन विषयों का इसमें विवेचन है, वह सम्पूर्णता के साथ है। इसमें भगवान् महावीर के समस्त अंगोपांगों का विशद् वर्णन किया गया है। भगवान् के समवसरण का सजीव चित्रण व उनकी महत्त्वपूर्ण उपदेश-विधि भी इसमें सुरक्षित है। श्रमण जीवन एवं स्थविर जीवन के वर्णन में द्वादशविध तप का भी इसमें विस्तृत विवेचन हुआ है। वस्तुतः यह आगम ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप के साधकों के लिए आचरणीय है।

## रायपसेणइयं

नंदीसूत्र में द्वितीय उपांग राजप्रश्नीय का नाम 'रायपसेणिय' मिलता है। इसके दो विभाग हैं। प्रथम भाग में सूर्याभ नामक देव का वर्णन है, जो भगवान् महावीर के सामने उपस्थित होकर नृत्य व विभिन्न प्रकार के नाटकों की रचना करता है। दूसरे भाग में सूर्याभ के पूर्वजन्म का वृत्तांत है। सूर्याभ का जीव राजा प्रदेसी के रूप में पार्श्वनाथ परम्परा के मुनि केशी



के साथ जीव के अस्तित्व व नास्तित्व को लेकर संवाद करता है। मुनिकेशी इस दुर्गम प्रश्न का युक्ति व सरलता से समाधान करते हैं। समाधान पाकर राजा प्रदेशी अन्त में सम्यग्दृष्टि बन जाता है। राजा प्रदेशी व केशी कुमार श्रमण के इस संवाद द्वारा 'जीव व शरीर एक है', इस मत का खण्डन कर 'जीव व शरीर भिन्न है', इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। इस आगम से पार्श्वनाथ की परम्परा से सम्बन्धित अनेक बातों की जानकारी तो प्राप्त होती ही है, साथ ही स्थापत्य, संगीत, वास्तु, नृत्य व नाट्य कला सम्बन्धी अनेक तथ्यों पर भी प्रकाश पड़ता है।

## जीवाजीवाभिगमो

जीवाजीवाभिगम तृतीय उपांग है। इस उपांग में भगवान् महावीर व गौतम गणधर के प्रश्नोत्तर के रूप में जीव-अजीव के भेद-प्रभेद की चर्चा की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में 272 गद्य सूत्र और 81 पद्य गाथाएँ हैं, जो 9 प्रकरणों में विभक्त हैं। जैन तत्त्वज्ञान का मूल बिन्दु जीव या आत्मा है। अतः इस आगम में अजीव तत्त्व का संक्षेप में वर्णन करते हुए जीव तत्त्व का विवेचन विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। प्रधान रूप से जीव के विविध भेदों को ध्यान में रखते हुए जीव तत्त्व का विवेचन किया गया है। जीव के भेदों के विवेचन के साथ उन जीवों की स्थिति, अन्तर, अल्प-बहुत्व का भी वर्णन किया गया है। इसके अध्ययन से व्यक्ति आत्मा व शरीर की भिन्नता का बोध प्राप्त करते हुए चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर हो सकता है। जीव-अजीव के वर्णन की प्रधानता होते हुए भी प्रस्तुत ग्रन्थ में द्वीप, सागरों, 16 प्रकार के रत्नों, अस्त्र-शस्त्रों के नाम, धातुओं के नाम, विविध आभूषण, वस्त्र, त्यौहार, उत्सव, नट, यान, उद्यान, वाणी, प्रसाधन, घर आदि के सरस व साहित्यिक वर्णन हैं। प्राचीन लोकजीवन की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

## पणवणा

जैन उपांग साहित्य में प्रज्ञापनासूत्र का चौथा स्थान है। यह जैन तत्त्वज्ञान का उद्बोधक सूत्र है। प्रज्ञापना का अर्थ है - ज्ञापित करना या बतलाना। प्रस्तुत आगम में जीव-अजीव की प्रज्ञापना होने के कारण इसे प्रज्ञापन के नाम से जाना गया है। अजीव तत्त्व का वर्णन इसमें संक्षिप्त

रूप से प्रस्तुत किया गया है तथा जीव तत्त्व की चर्चा अति विस्तार से की गई है। उपांग साहित्य में प्रज्ञापनासूत्र का वही स्थान है, जो अंग साहित्य में व्याख्याप्रज्ञप्ति का है। व्याख्याप्रज्ञप्ति की तरह प्रज्ञापना के लिए भगवती विशेषण प्रयुक्त हुआ है, जो इसकी महत्ता को सूचित करता है। आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापना को समवायांग का उपांग कहा है, किन्तु इसके रचयिता स्वयं श्यामाचार्य ने प्रज्ञापना को दृष्टिवाद का निष्कर्ष कहा है। प्रज्ञापनासूत्र व षट्खण्डागम दोनों का विषय प्रायः समान है तथा षट्खण्डागम की रचना दृष्टिवाद के अंश से हुई है। इस दृष्टि से प्रज्ञापना का सम्बन्ध दृष्टिवाद से जोड़ा जा सकता है। प्रज्ञापनासूत्र में 36 पद हैं, जिनमें स्थान, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन आदि अनेक दृष्टियों से जीवों के भेद-प्रभेद व अल्प-बहुत्व पर विचार किया गया है।

### जम्बूद्वीपवर्णना

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को कहीं पाँचवां उपांग माना है तो कहीं छठवाँ। इस उपांग में एक अध्ययन व सात वृक्षस्कार (प्रकरण) हैं। इनमें क्रमशः भरतक्षेत्र, कालचक्र, भरत चक्रवर्ती, चुल्ल हिमवंत, जिन-जन्माभिषेक, जम्बूद्वीप व ज्योतिष्क देवों का वर्णन है। प्रस्तुत आगम भूगोल की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जैन दृष्टि से ऋषभदेव का प्रागैतिहासिक जीवन चरित का इसमें वर्णन हुआ है। भरत की दिग्विजय, भरत व किरातों के युद्ध, तीर्थंकर के कल्याण-महोत्सव, बहत्तर कलाएँ, स्त्रियों की विशिष्ट चौसठ कलाएँ तथा अनेक शिल्प आदि का भी इसमें वर्णन हुआ है।

### सूर्यवर्णना

सूर्यप्रज्ञप्ति को भी कहीं पाँचवां, कहीं छठवाँ व कहीं सातवाँ उपांग माना है। इसमें 20 पाहुड, 108 गद्य सूत्र तथा 103 पद्य गाथाएँ हैं। इसमें सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गतियों का विस्तार से वर्णन है। प्रसंगवश द्वीप व सागरों का निरूपण हुआ है। प्राचीन ज्योतिष सम्बन्धी मूल गान्यताएँ भी इसमें संकलित हैं। इसे ज्योतिष, भूगोल, गणित व खगोल विज्ञान का महत्त्वपूर्ण कोश कह सकते हैं।

## चंद्रपण्णत्ती

चन्द्रप्रज्ञप्ति विषय की दृष्टि से सूर्यप्रज्ञप्ति के निकट है। वर्तमान में जो इसका रूप मिलता है, वह अक्षरशः सूर्यप्रज्ञप्ति के समान है। केवल प्रारम्भ में मंगलाचरण तथा विषय सूचन करने वाली 18 गाथाएँ आई हैं, जो सूर्य प्रज्ञप्ति में नहीं हैं। विद्वानों के लिए यह बड़ी समस्या का विषय है कि ये दो अलग-अलग ग्रन्थ हैं अथवा एक ही ग्रन्थ है। इसमें चन्द्र व सूर्य के आकार, तेज, परिभ्रमण, उनकी गतियाँ, विमान आदि का निरूपण है। इस आगम में चन्द्रमा को स्वतः प्रकाशमान बताया है तथा उसके घटने-बढ़ने का कारण राहू को स्वीकार किया है।

## निरयावलिया

निरयावलिका का अर्थ है नरक में जाने वाले जीवों का पंक्तिबद्ध वर्णन करने वाला सूत्र। पूर्व में इस आगम में 1 श्रुतस्कन्ध, 52 अध्ययन व पाँच वर्ग थे तथा इसमें निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा, इन पाँच उपांगों का समावेश था, किन्तु वर्तमान समय में ये पाँचों उपांग पृथक-पृथक रूप में स्वीकृत हैं। वर्तमान में निरयावलिका में दस अध्ययन हैं। इसके दस अध्ययनों में काल, सुकाल, महाकाल, कण्ह, सुकण्ह, महाकण्ह, वीरकण्ह, रामकण्ह, पिउसेनकण्ह व महासेनकण्ह के जीवन-चरित का वर्णन है। ये सभी कुमार राजा श्रेणिक के पुत्र तथा कूणिक (अजातशत्रु) के भाई थे। यह उपांग ऐतिहासिक वर्णनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। राजा कूणिक व राजा चेटक के बीच हुए महाशिलाकण्टकसंग्राम का इसमें उल्लेख है।

## कप्पवडंसिया

शाब्दिक दृष्टि से कल्पावतंसिका का अर्थ है - विमानवासी देव। इस उपांग में दस अध्ययन हैं, जिनमें श्रेणिक राजा के दस पौत्रों पउम, महापउम, भद्द, सुभद्द, पउमभद्द, पउमसेन, पउमगुल्म, नलिनीगुल्म, आणंद और नन्दन के भगवान् महावीर के पास श्रमण दीक्षा ग्रहण करने, देवलोक जाने, अन्ततः महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्धत्व प्राप्त करने के वर्णन हैं। इस उपांग में व्रताचरण द्वारा जीवन-शोधन की प्रक्रिया पर प्रकाश

डालते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि जिनके पिता अपने कषायों के कारण नरक गति को प्राप्त हुए, उन्हीं के पुत्र रत्नत्रय रूप धर्म की सम्यक् आराधना करने के कारण देवलोक में गये। कर्म सिद्धान्त की सुन्दर व्याख्या करता हुआ यह उपांग मनुष्य के उत्थान व पतन का कारण कर्म को ही स्वीकार करता है।

## पुष्पिका

पुष्पिका उपांग में दस अध्ययन हैं। इन दस अध्ययनों में चन्द्र, सूर्य, महाशुक्र, बहुपुत्रिका, पूर्णभद्र, माणिभद्र, दत्त, शिव, बल और अनादृत देवों का वर्णन है, जो विमान में बैठकर भगवान् महावीर के दर्शन के लिए जाते हैं। गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान् महावीर उनके पूर्वभवों का कथानक कहते हैं। इस उपांग में स्व-समय और पर-समय के ज्ञान की दृष्टि से कथाओं का संकलन है। कथाओं में कौतूहल तत्त्व की प्रधानता है। इसके तीसरे अध्ययन में सोमिल ब्राह्मण का कथानक वर्णित है। देव द्वारा उसे प्रतिबोध देना तथा सोमिल द्वारा बारह व्रतों को स्वीकार करने का प्रसंग अत्यन्त रोचक है। सोमिल ब्राह्मण के कथानक के सन्दर्भ में 40 प्रकार के तापसों का उल्लेख हुआ है, जो उस समय की साधना-प्रणालियों को जानने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सभी आख्यानों में वर्तमान जीवन की अपेक्षा परलोक के जीवन पर अधिक प्रकाश डाला गया है। इस आगम के चौथे अध्ययन में बहुपुत्रिका की कथा के माध्यम से सांसारिक मोह और ममताओं का सबल चित्रण हुआ है। पुनर्जन्म और कर्म सिद्धान्त का समर्थन सर्वत्र मुखरित है।

## पुष्पचूला

पुष्पचूला की गणना धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत की गई है। इस उपांग में दस अध्ययन हैं, जिनमें भगवान् पार्श्वनाथ के शासन में दीक्षित होने वाली 10 श्रमणियों श्रीदेवी, ह्रीदेवी, धृतिदेवी, कीर्तिदेवी, बुद्धिदेवी, लक्ष्मीदेवी, इलादेवी, सुरादेवी, रसदेवी और गंधदेवी के जीवन की चर्चा कथानक शैली में की गई है। ये सभी देवियाँ पूर्वभव में भगवान् पार्श्व के उद्बोधन से प्रेरित होकर आर्या पुष्पचूलिका के समीप श्रमण दीक्षा

अंगीकार करती हैं। अन्ततः सभी देवियाँ देवलोक से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्धि प्राप्त करेंगी। इन कथाओं के माध्यम से शुद्ध श्रमणाचार के पालन की प्रेरणा दी गई है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह आगम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत आगम के अध्ययन से भगवान् पार्श्वनाथ के समय की श्रमण परम्परा का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही तद्युगीन श्रमणियों के पूर्व व पर भव के जीवन-चरित का भी परिचय मिलता है।

## वृष्णिहदसा

वृष्णिदशा अंतिम उपांग है। प्रस्तुत उपांग में बारह अध्ययन हैं। इनमें वृष्णिवंश के बलदेवजी के निषधकुमार आदि 12 पुत्रों का भगवान् नेमिनाथ के पास दीक्षित होने एवं साधना करके सर्वार्थसिद्धि विमान में जाने तथा वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष में जाने का वर्णन है। इस उपांग में पौराणिकता का प्रतिपादन अधिक हुआ है। भगवान् अरिष्टनेमि के विषय में विशेष चित्रण हुआ है तथा उनके शासन काल में दीक्षित अणुगारों का भी वर्णन प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व, प्रभुत्व, सैन्य, समृद्धि, गरिमा आदि का निरूपण हुआ है। यादव वंश के प्रागैतिहासिक विवरण की दृष्टि से इस ग्रन्थ में महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित है।

## प्रकीर्णक

जैन आगम साहित्य में प्रकीर्णकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नन्दीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि ने प्रकीर्णक को परिभाषित करते हुए कहा है कि अरहंतों द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करते हुए श्रमण-निर्ग्रन्थ भक्ति भावना व श्रद्धावश मूल भावना से दूर न रहते हुए, जिन ग्रन्थों का निर्माण करते हैं, उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं। भगवान् श्रभदेव के 84,000 तथा भगवान् महावीर के 14,000 प्रकीर्णक होने का उल्लेख मिलता है। नन्दीसूत्र, स्थानांगसूत्र, व्यवहारसूत्र, धवला, पाक्षिक आदि सूत्रों में विभिन्न प्रकीर्णक ग्रन्थों के नाम गिनाये गये हैं, किन्तु इस क्रम में कुछ ग्रन्थों का विच्छेद हो गया तथा कुछ नये शास्त्र ग्रन्थ जुड़ते भी गये हैं। अतः सर्वमान्य रूप में प्रकीर्णक की संख्या निश्चित नहीं हो सकी है। वर्तमान समय में श्वेताम्बर परम्परा के 45 आगमों की मान्यता में निम्न 10 प्रकीर्णक मान्य हैं -

- |                |                 |                 |
|----------------|-----------------|-----------------|
| 1. चउसरण       | 2. आउरपच्चक्खाण | 3. महापच्चक्खाण |
| 4. भत्तपरिण्णा | 5. तंदुलवेयालिय | 6. संथारय       |
| 7. गच्छायार    | 8. गणिविज्जा    | 9. देविंदत्थय   |
| 10. मरणसमाधि । |                 |                 |

कोई मरणसमाधि और गच्छाचार के स्थान पर चन्द्रवेध्यक और वीरस्तव को गिनते हैं तो कोई देवेन्द्रस्तव और वीरस्तव को मिला देते हैं तथा संस्तारक को नहीं गिनते, किन्तु इनके स्थान पर गच्छाचार और मरणसमाधि का उल्लेख करते हैं।

इनमें से कुछ को छोड़कर शेष प्रकीर्णक प्राचीन ही हैं। तंदुलवेयालिय का उल्लेख अगस्त्यसिंह की दशवैकालिकचूर्णि में मिलता है। इन 10 प्रकीर्णकों के अतिरिक्त तित्थोगालिय, अजीवकल्प, सिद्धपाहुड, आराहणापहाआ, दीवसायरपण्णत्ति, जोइसकरंडग, अंगविज्जा, पिंडविसोहि, तिहिपइण्णग, सारावली, पज्जंताराहणा, जीवविहत्ति, कवचप्रकरण और जोणिपाहुड भी प्रकीर्णक माने गये हैं।

वस्तुतः भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर तक प्रज्ञावान् स्थविर साधुओं द्वारा स्वबुद्धि एवं वचनकौशल से धर्म तथा तत्त्व ज्ञान को जनसाधारण तक पहुँचाने की दृष्टि से तथा कर्म निर्जरा के उद्देश्य से प्रकीर्णकों की रचना की गई। ये रचनाएँ प्रायः पद्यात्मक हैं। इनमें जैन धर्म सम्बन्धी विविध विषयों की चर्चा करते हुए जीवन शोधन की विभिन्न प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। चतुःशरण में अरिहंत, सिद्ध, साधु और जिनदेशित धर्म को एक मात्र शरण माना है। यथा —

**अरिहंत सिद्ध साहू केवलिकहिओ सुहावहो धम्मो ।**

**एए चउरो चउगइहरणा, सरणं लहइ धन्नो ( गा. 11 )**

आतुरप्रत्याख्यान में बालमरण, बालपंडितमरण व पंडितमरण से सम्बन्धित विस्तृत विवेचन के साथ-साथ प्रत्याख्यान की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए उसे शाश्वत गति का साधन बताया है। महाप्रत्याख्यान में त्याग का विस्तृत वर्णन है तथा मरणसमाधि में समाधिमरण की पूर्व तैयारी और

उसकी साधना की विशेष विधियों का निरूपण हुआ है। तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक जैन-विज्ञान का सुन्दर एवं संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करता है। संस्तारक प्रकीर्णक में अन्तिम समय में आराधना करने के लिए संस्तारक को श्रेष्ठ बताया है। गच्छाचार में जैन संघ-व्यवस्था एवं गच्छ में रहने वाले आचार्य तथा साधु-साधवियों के आचार का वर्णन है। धर्म व आचार के साथ-साथ कुछ ग्रन्थों में देवविमान, खगोल विज्ञान, ज्योतिष और निमित्त सम्बन्धी अनेक बातों पर भी प्रकाश डाला गया है। देवेन्द्रस्तव में कल्पोपन्न और कल्पातीत देवों आदि का वर्णन हुआ है। द्वीपसागरप्रज्ञप्ति में विभिन्न द्वीप व सागरों की संरचना का वर्णन हुआ है। गणिविद्या प्रकीर्णक ज्योतिष का ग्रन्थ है, जिसमें दिवस-तिथि, नक्षत्र, करण, ग्रह-दिवस, शकुन, लगन, निमित्त आदि का विवेचन है। वीरस्तव प्रकीर्णक में भगवान् महावीर की स्तुति उनके 26 नामों द्वारा की गई है। इस प्रकार प्रकीर्णक साहित्य में जैनधर्म के विविध पक्षों का समावेश हुआ है, जो साधना की दृष्टि से अंग आगम साहित्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

## छेदसूत्र

छेदसूत्र जैन आचार की कुंजी हैं, जैन संस्कृति की अद्वितीय निधि हैं, जैन साहित्य की गरिमा हैं। छेदसूत्रों में श्रमणों की आचार-संहिता का प्रतिपादन किया गया है। विशुद्ध आचार-विचार को समझने के लिए छेदसूत्रों का अध्ययन आवश्यक है। श्रमण जीवन की पवित्रता को बनाये रखने वाले ये उत्तम श्रुत हैं। दैनिक जीवन में अत्यन्त सावधान रहने पर भी दोष लगना स्वाभाविक है। छेदसूत्रों में उन दोषों की सूची व उसके लिये दिये गये प्रायश्चित्त का विधान है। वस्तुतः छेदसूत्रों का उद्देश्य विभिन्न देशकाल में होने वाले साधु-साधवियों की परिस्थिति वश उलझी समस्याओं का निराकरण करना तथा मोह, अज्ञान एवं प्रमाद के कारण सेवित दोषों से संयम की रक्षा करना है। इस दृष्टि से छेदसूत्रों की विषयवस्तु को चार विभागों में बाँटा गया है— 1. उत्सर्गमार्ग 2. अपवादमार्ग 3. दोष सेवन 4. प्रायश्चित्त विधान। मूलसूत्रों की तरह छेदसूत्रों की संख्या को लेकर विद्वान् एकमत नहीं हैं। समाचारीशतक में समयसुन्दरगणि ने छेदसूत्रों की संख्या छः बताई है। 1. दशाश्रुतस्कन्ध, 2. व्यवहार,

3. बृहत्कल्प, 4. निशीथ, 5. महानिशीथ, 6. जीतकल्प। नन्दीसूत्र में जीतकल्प को छोड़कर शेष पाँच नाम मिलते हैं। पुनरुद्धार किया जाने के कारण कुछ परम्पराएँ महानिशीथ को आगम की कोटि में नहीं मानती हैं। अतः स्थानकवासी व तेरापंथी परम्परा में मौलिक छेदसूत्र चार ही माने गये हैं।

## आयारदसाओ

दशाश्रुतस्कन्ध का ठाणांग में दूसरा नाम **आचारदशा** भी प्राप्त होता है। इसके दस अध्ययन हैं, जिनमें दोषों से बचने का विधान है। पहले उद्देशक में 20 असंमाधि दोष, दूसरे उद्देशक में 21 शबल दोष, तीसरे उद्देशक में 33 प्रकार की आशातनाओं, चौथे उद्देशक में 8 प्रकार की गणिसंपदाओं, पाँचवें उद्देशक में 10 प्रकार की चित्तसमाधि, छठें उद्देशक में 11 प्रकार की उपासक प्रतिमाओं, सातवें उद्देशक में 12 प्रकार की भिक्षु प्रतिमाओं, आठवें उद्देशक में पर्युषणा, नवें में 30 महा-मोहनीय स्थानों व दसवें उद्देशक में नव-निदानों का वर्णन है। इस आगम के आठवें उद्देशक पर्युषणा में महावीर का जीवन चरित विस्तार से वर्णित हुआ है। यह अध्ययन विकसित होकर वर्तमान में **कल्पसूत्र** के नाम से जाना जाता है।

## कप्यो

बृहत्कल्प का छेदसूत्रों में गौरवपूर्ण स्थान है। बृहत्कल्प कल्पसूत्र से भिन्न साध्वाचार का स्वतंत्र ग्रन्थ है। अन्य छेदसूत्रों की तरह इसमें भी श्रमणों के आचार-विषयक विधि-निषेध, उत्सर्ग-अपवाद, तप, प्रायश्चित्त आदि पर चिन्तन किया गया है। इसमें छः उद्देशक हैं। इसके रचयिता श्रुतकेवली भद्रबाहु माने जाते हैं। श्रमण जीवन से सम्बद्ध व प्राचीनतम आचार-शास्त्र का ग्रन्थ होने के कारण इसका आगम साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ में साधु-साध्वियों के लिए वर्षावास में विहार, वस्त्र लेने आदि का निषेध किया गया है। निर्ग्रन्थी का एकाकी रहना, पात्र रहित रहना, ग्राम आदि के बाहर आतापना लेना आदि का वर्जन किया है। इसके छठे उद्देशक में अपवादिक सूत्रों का विवेचन है। इस प्रकार बृहत्कल्प में श्रमण-श्रमणियों के जीवन और व्यवहार से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण



तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः उत्सर्ग और अपवाद के कथन द्वारा मुनिधर्म की रक्षा और शुद्धि करना ही इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है।

## व्यवहारो

व्यवहारसूत्र को द्वादशांगी का नवनीत कहा गया है। श्रमण जीवन के सर्वांगीण अध्ययन एवं अनुशीलन की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अन्य छेदसूत्रों की भाँति इस सूत्र में भी श्रमण जीवन की आचार संहिता का वर्णन हुआ है। इसके रचयिता भद्रबाहु माने गये हैं। बृहत्कल्प व व्यवहारसूत्र को एक दूसरे का पूरक माना गया है। इसके दसवें उद्देशक के तीसरे सूत्र में पाँच व्यवहारों के नाम आए हैं — **पंचविहे व्यवहारे पण्णत्तो तंजहा आगमे सुए आणा धारणा जीए**। इन्हीं पाँच व्यवहारों के आधार पर इस सूत्र का नामकरण किया गया है। इसमें दस उद्देशक हैं, जिनमें स्वाध्याय व अनध्याय काल की विवेचना, श्रमण-श्रमणियों के बीच आचार-व्यवहार सम्बन्धी तारतम्य, ऊनोदरी-तप, आचार्य व उपाध्याय के विहार के नियम, प्रतिकार के लिए आलोचना, प्रायश्चित्त, साध्वियों के निवास, अध्ययन, चर्या, वैयावृत्य आदि श्रमणाचार सम्बन्धी व्यवहारों तथा संघ व्यवस्था के नियमोपनियम आदि का विवेचन है।

## निशीहं

छेदसूत्रों में निशीथसूत्र एक मानदण्ड के रूप में है। यह सूत्र अपवाद बहुल है। इसमें श्रमणाचार के अपवादिक नियमों एवं उनकी प्रायश्चित्त विधि की विशेष चर्चा की गई है। अनिवार्य कारणों से या बिना कारण ही संयम की मर्यादा को भंग करके यदि कोई स्वयं आलोचना करके प्रायश्चित्त ग्रहण करे तो किस दोष का कितना प्रायश्चित्त होता है, यह इस छेद का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। अतः यह छेदसूत्र हर किसी को नहीं पढ़ाया जाता है। निशीथसूत्र में 20 उद्देशक हैं, जिनमें चार प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन है। 19 उद्देशकों में प्रायश्चित्त का विधान तथा 20वें उद्देशक में प्रायश्चित्त देने की प्रक्रिया का वर्णन है। निशीथ आचारांगसूत्र की पाँचवीं चूलिका ही है, किन्तु विस्तृत होने के कारण बाद में इसे निशीथ के नाम से अलग कर दिया गया। इसके अतिरिक्त इस सूत्र में पाँच

महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, श्रमण—श्रमणी के आचार, गोचरी, भिक्षाचरी, कल्प, क्रिया आदि के नियमों, दोषों व उनके शुद्धिकरण के उपायों का वर्णन है।

## महानिशीहं

महानिशीथ को समस्त अर्हत् प्रवचन का सार माना गया है। वस्तुतः मूल रूप में जो महानिशीथ था, वह यथावत रूप में उपलब्ध नहीं रहा। वर्तमान में आचार्य हरिभद्र द्वारा उसका परिष्कार कर संशोधन किया गया रूप उपलब्ध है, जिसे सिद्धसेन, यक्षसेन, नेमिचन्द्र, जिनदासगणि आदि आचार्यों ने भी बहुमान्य किया है। इसकी भाषा एवं विषय के स्वरूप को देखते हुए यह सूत्र अर्वाचीन ही प्रतीत होता है। इसमें छः अध्ययन व दो चूला हैं, जिनमें क्रमशः 18 पापस्थान, पाप कर्मों की आलोचना, पंच मंगल का महत्त्व, कुशील साधु का संसर्ग छोड़ने, गुरु—शिष्य के पारिवारिक सम्बन्ध तथा आलोचना व प्रायश्चित्त का वर्णन मिलता है।

## जीयकप्यो

जीतकल्पसूत्र के रचयिता विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं। जीत या जीय का शाब्दिक दृष्टि से अर्थ है — परम्परा से आगत आचार, मर्यादा, व्यवस्था या प्रायश्चित्त से सम्बन्ध रखने वाला एक प्रकार का रिवाज। इस दृष्टि से इस सूत्र में जैन श्रमणों के आचार—व्यवहार से सम्बन्धित प्रायश्चित्तों पर विचार किया गया है। 103 गाथाओं में प्रायश्चित्त का महत्त्व तथा आत्मशुद्धि में उसकी उपादेयता का प्रतिपादन किया गया है। इसमें प्रायश्चित्त के 10 भेदों का वर्णन हुआ है—

- |           |               |                            |
|-----------|---------------|----------------------------|
| 1. आलोचना | 2. प्रतिक्रमण | 3. मिश्र—आलोचना—प्रतिक्रमण |
| 4. विवेक  | 5. व्युत्सर्ग | 6. तप                      |
| 7. छेद    |               |                            |
| 8. मूल    | 9. अनवस्थाप्य | 10. पारांचिक।              |

## मूलसूत्र

मूलसूत्रों की मान्यता कब से प्रचलित हुई यह निश्चित नहीं है। विक्रम संवत् 1334 में निर्मित प्रभावक चरित में सर्वप्रथम इसका उल्लेख मिलता है। मूलसूत्रों की परिभाषा देते हुए आचार्य देवेन्द्रमुनि ने लिखा है कि जिन आगमों में मुख्य रूप से श्रमण के आचार सम्बन्धी मूल गुणों, महाव्रतों, समिति, गुप्ति आदि का निरूपण है और जो श्रमण जीवन-चर्या में मूल रूप से सहायक बनते हैं और जिन आगमों का अध्ययन श्रमण के लिए सर्वप्रथम अपेक्षित है, उन्हें मूलसूत्र कहते हैं। मूलसूत्रों की संख्या को लेकर मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान् उत्तराध्ययन, आवश्यकसूत्र एवं दशवैकालिक इन तीनों को ही मूलसूत्रों में गिनते हैं। कुछ इसमें पिण्डनिर्युक्ति को शामिल कर उनकी संख्या चार मानते हैं। कुछ ओघनिर्युक्ति को भी इनमें सम्मिलित कर मूलसूत्र पाँच मानते हैं। स्थानकवासी व तेरापंथी उत्तराध्ययन व दशवैकालिक के साथ नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार को सम्मिलित कर मूलसूत्र की संख्या चार मानते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य देवेन्द्र मुनि ने अपने ग्रन्थ 'जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा' में विस्तृत विवेचन किया है।

## उत्तरज्झयणाइं

उत्तराध्ययन जैन अर्धमागधी आगम साहित्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आगम ग्रन्थ माना जाता है। इसे महावीर की अन्तिम देशना के रूप में स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययन की विषयवस्तु प्राचीन है। समवायांग व उत्तराध्ययननिर्युक्ति में उत्तराध्ययन की जो विषयवस्तु दी गई है, वह उत्तराध्ययन में ज्यों की त्यों प्राप्त होती है। उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन हैं, इनमें संक्षेप में प्रायः सभी विषयों से सम्बन्धित विवेचन उपलब्ध है। धर्म, दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि की निर्मल धाराएँ इसमें प्रवाहित हैं। जीव, अजीव, कर्मवाद, षड्द्रव्य, नवतत्त्व, पार्श्वनाथ एवं महावीर की परम्परा प्रभृति सभी विषयों का इसमें समावेश हुआ है। दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ-साथ इसमें बहुत सारे कथानकों एवं आख्यानों का भी संकलन हुआ है। इसमें वर्णित नमिप्रव्रज्या, हरिकेशी, चित्त-संभूति,

मृगापुत्र, इषुकारीय, रथनेमि आदि आख्यान सरस एवं रोचक हैं। ये आख्यान जहाँ एक ओर धर्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, वहीं दूसरी ओर तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं को भी प्रकाशित करते हैं। उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन 'विनयसूत्र' में गुरु शिष्य के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है। विनीत शिष्य का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि—

**आणानिहेसकरे गुरूणमुववायकारए ।**

**इंगियाकारसंपन्ने से विणीए त्ति वुच्चई ॥ ( गा. 1.2 )**

अर्थात् — गुरु की आज्ञा व निर्देश के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला, उसकी सेवा — शुश्रूषा करने वाला तथा उसकी चेष्टा एवं आकृति से ही उसके आन्तरिक मनोभावों को समझने वाला शिष्य विनीत कहलाता है।

बाइसवें अध्ययन 'रथनेमि' में अपने बोध वचनों के द्वारा संयम से भटके रथनेमि को उद्बोधन देकर सन्मार्ग पर लाती हुई राजीमती नारी के उदात्त रूप को चित्रित करती है। पच्चीसवें अध्ययन में जन्मना जातिवाद का खंडन कर कर्मणा जातिवाद की स्थापना करते हुए सच्चे श्रमण व ब्राह्मण का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि एवं तप से तपस्वी होता है। यथा —

**समयाए समणो होई, बंभचरेण बंभणो ।**

**णाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥ ( गा. 25.32 )**

पैंतीसवें 'अनगार' नामक अध्ययन में यह स्पष्ट किया गया है कि केवल घर छोड़ने से कोई अनगार नहीं बन जाता है बल्कि आध्यात्मिक मार्ग में गति-प्रगति उसके लिए आवश्यक है। इस प्रकार इसके विभिन्न अध्ययनों में तत्त्व-चर्चा, श्रमण जीवन के आचार, संसार की असारता, कर्म प्रकृति आदि विषयों का निरूपण हुआ है।

**दसवेयालियं**

मूल आगमों में दशवैकालिक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सूत्र की रचना आचार्य शय्यंभवसूरि द्वारा अपने नवदीक्षित अल्प आयु वाले शिष्यों

के लिए की गई थी। श्रमण जीवन के लिए अनिवार्य आचार से सम्बन्धित नियमों का इस ग्रन्थ में सुन्दर संयोजन किया गया है। इसका उद्देश्य मुमुक्षु साधकों को अल्प समय में ही आवश्यक ज्ञान प्रदान कर उन्हें आत्मकल्याण के मार्ग की साधना के पथ पर आगे बढ़ाना है। दशवैकालिक में दस अध्ययन हैं, जिनमें श्रमण जीवन के आचार-गोचर सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया गया है। प्रथम अध्ययन द्रुमपुष्पिका में अहिंसा, तप व संयम युक्त धर्म को उत्कृष्ट मंगल रूप माना है — **धम्मो मंगलमुक्खिद्वं अहिंसा संजमो तवो** । द्वितीय श्रामण्य अध्ययन में रथनेमि व राजीमती के संवाद के माध्यम से कामना के निवारण के उपाय बताये गये हैं। तृतीय अध्ययन क्षुल्लकाचार में यह स्पष्ट किया गया है कि जिसकी धर्म में धृति नहीं होती है, वह आचार व अनाचार में भेद नहीं कर सकता है। इसमें 52 अनाचारों का उल्लेख हुआ है। चतुर्थ अध्ययन में षट्जीवनिकाय का वर्णन तथा उनकी रक्षा के लिए पाँच महाव्रतों के पालन व रात्रि भोजन के निषेध पर चिन्तन किया गया है। पाँचवें पिण्डैषणा अध्ययन में साधु के लिए भोजन आदि के ग्रहण व परिभोग की एषणा का सुन्दर वर्णन है। छठें अध्ययन महाचार में अनाचार के विविध पहलुओं पर विचार किया गया है, इसमें परिग्रह की सीमाओं का भी विवेचन है। सातवें वाक्य-शुद्धि अध्ययन में भाषा दोष को त्यागने तथा हित-मित और पथ्य भाषा बोलने की शिक्षा दी गई है। आठवें अध्ययन आचारप्रणिधि में श्रमण को इन्द्रियनिग्रह कर मन को एकाग्र करने का संदेश दिया गया है। क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषाय के निग्रह का यह संदेश दृष्टव्य है —

**उवसमेण हणे कोहं, माणं महवया जिणे ।**

**मायं चज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥ ( गा. 8.39 )**

अर्थात् — क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव भाव से जीते। माया को सरल भाव से और लोभ को संतोष से जीते।

नवें अध्ययन विनय समाधि में विनय की विविध धाराओं का प्रतिपादन हुआ है। दसवें सभिक्षु अध्ययन में संवेग, निर्वेद, विवेक, आराधना, ज्ञान, तप आदि को भिक्षु के लक्षण बताये हैं।

## आवस्सयं

आवश्यकसूत्र जीवन-शुद्धि और दोष-परिमार्जन का महासूत्र है। आवश्यक साधक की आत्मा को परखने व निखारने का महान उपाय है। 'अवश्य' से आवश्यक बना है, अर्थात् जो चतुर्विध संघ के लिए प्रतिदिन अवश्य करने योग्य है, वह आवश्यक है। आवश्यक के छः प्रकार बताये गये हैं -

1. सामायिक
2. चतुर्विंशतिस्तव
3. वन्दना
4. प्रतिक्रमण
5. कायोत्सर्ग
6. प्रत्याख्यान।

छः अध्ययनों में इनका विवेचन किया गया है। आवश्यक का आध्यात्मिक दृष्टि से तो महत्त्व है ही, दैनिक जीवन में भी इसके पालन से क्षमा, आर्जव आदि गुणों का विकास होता है। यह सूत्र श्रमण-श्रमणियों के साथ-साथ श्रावक-श्राविकाओं के लिए भी पाप-क्रियाओं से बचकर धर्म मार्ग में अग्रसर होने की प्रायोगिक विधि प्रस्तुत करता है। अतः यह साधु व श्रावक दोनों के लिए ही महत्त्वपूर्ण है।

## पिंडणिज्जुत्ती-ओहणिज्जुत्ती

पिंडनिर्युक्ति एवं ओघनिर्युक्ति की गणना कहीं मूलसूत्रों में और कहीं प्रकीर्णक साहित्य में की जाती है, फिर भी साधुओं के आचार-व्यवहार का निरूपण होने के कारण इन दोनों ग्रन्थों को मूल 45 आगमों में सम्मिलित किया गया है। पिंड का अर्थ है - श्रमण के ग्रहण करने योग्य आहार। इसमें श्रमणों की आहार विधि का वर्णन हुआ है, अतः इसका पिंडनिर्युक्ति नाम सार्थक है। इसके रचयिता आचार्य भद्रबाहु हैं। दशवैकालिकसूत्र के पाँचवें अध्याय पिंडैषणा पर लिखी गई निर्युक्ति के विस्तृत हो जाने के कारण पिंडनिर्युक्ति के नाम से अलग आगम की मान्यता दी गई है। भद्रबाहु ने इस ग्रन्थ में 671 गाथाओं में पिंडनिरूपण, उदगमदोष, उत्पादनदोष, ग्रासदोष, एषणादोष आदि का विवेचन किया है।

ओघ का अर्थ है सामान्य। विस्तार में गये बिना ओघनिर्युक्ति में

सामान्य समाचारी का कथन किया गया है। इसके कर्ता भी भद्रबाहु हैं। इसे आवश्यकनिर्युक्ति का अंश माना जाता है। इसमें 811 गाथाएँ हैं, जिनमें साधुओं के आचार-विचार का प्रतिपादन किया गया है। साध्वाचार का ग्रन्थ होने के कारण कहीं-कहीं ओघनिर्युक्ति की गणना छेदसूत्रों में भी की जाती है। जैन श्रमण संघ के इतिहास का संकलन करने की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

## चूलिका

नंदीसूत्र व अनुयोगद्वारसूत्र की गणना चूलिकासूत्र में की जाती है। अतः इनका परिचय चूलिका सूत्र के अन्तर्गत दिया जा रहा है।

### नंदिसूत्र

यह आगम चूलिका के नाम से जाना जाता है। नन्दीसूत्र के रचयिता देववाचक हैं। इनका समय वि.सं. की पाँचवी शताब्दी माना जाता है। नन्दीसूत्र का प्रमुख विषय ज्ञानवाद है। निर्युक्तिकार के अनुसार भाव व निक्षेप से पाँच ज्ञान को नन्दी कहते हैं। इसमें पाँच ज्ञान की सूचना देने वाले सूत्र हैं, अतः इसका नन्दीसूत्र नाम सार्थक है। इसमें पाँचों ज्ञान का विशद वर्णन उनके भेद-प्रभेदों के साथ किया गया है। नन्दीसूत्र में ज्ञान के सम्बन्ध में जो विश्लेषण किया गया है, उसका मुख्य आधार स्थानांग, समवायांग, भगवती, राजप्रश्नीय व उत्तराध्ययन सूत्र हैं। उनमें दिये गये संक्षिप्त ज्ञानवाद को नन्दीसूत्र में पूर्ण विकसित किया गया है। ज्ञान के विश्लेषण के अन्तर्गत मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान की व्याख्या की गई है। सम्यक् श्रुत के प्रसंग में द्वादशांगी के आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग आदि बारह भेद किये गये हैं। जिनदासगणि महत्तर ने नन्दीसूत्र पर चूर्ण की रचना की है तथा आचार्य हरिभद्र तथा आचार्य मलयगिरि ने इस पर टीकाएँ लिखी हैं।

### अणुओगद्वाराइं

समस्त आगमों के स्वरूप व उनकी व्याख्याओं को समझने की दृष्टि से अनुयोगद्वारसूत्र एक महत्त्वपूर्ण आगम ग्रन्थ है। आगमों के

वर्गीकरण में इसे भी चूलिका रूप में रखा गया है। अनुयोग का शाब्दिक अर्थ है, शब्दों की व्याख्या करने की प्रक्रिया। भद्रबाहु ने अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिक इन पाँचों को अनुयोग का पर्याय रूप कहा है। नन्दीसूत्र के समान यह ग्रन्थ भी प्राचीन है। इसके रचयिता आर्यरक्षित माने जाते हैं। इसमें चार द्वार हैं — उपक्रम, निक्षेप, अनुगम एवं नय। इन चारों द्वारों के माध्यम से आगम वर्णित तथ्यों, सिद्धान्तों एवं तत्त्वों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। व्याख्येय शब्द का निक्षेप करके, पहले उसके अनेक अर्थों का निर्देश करते हुए, प्रस्तुत में उस शब्द का कौनसा अर्थ ग्राह्य है, इस शैली को समझाया गया है। इस शैली के द्वारा सत्य का साक्षात्कार सहज ढंग से हो सकता है। प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गये इस आगम ग्रन्थ की विषयवस्तु में विविधता है। सात स्वरो, नवरसों, व्याकरण की आठ विभक्तियों आदि का उल्लेख इसमें प्राप्त होता है। पत्योपम, सागरोपम आदि के भेद-प्रभेद, संख्यात, असंख्यात, अनन्त आदि का विश्लेषण, भेद, प्रकार आदि का विस्तृत वर्णन है। प्रमाण के वर्णन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा आगम की विशद चर्चा की गई है। प्रमाण की तरह नयवाद पर भी इसमें विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है। अनेकानेक विषयों का विवेचन किये जाने के कारण यह ग्रन्थ अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

## आगमिक-व्याख्या-साहित्य

जैन आगम साहित्य में अत्यंत सूक्ष्म व गंभीर विषयों का सूत्र रूप में निरूपण हुआ है। सामान्यतः आगमों के समस्त गूढ़ रहस्यों और उनके विषयों को सीधे सम्यक् प्रकार से समझना संभव नहीं है, अतः इन आगमिक रहस्यों व सम्यक् विषयों को समझने के लिए जैनाचार्यों द्वारा इनकी विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत की गई। इसी परम्परा में विविध आगमिक-व्याख्या-साहित्य का निर्माण हुआ। जैनागमों पर पाँच प्रकार का व्याख्या साहित्य उपलब्ध है। 1. निर्युक्ति 2. भाष्य 3. चूर्णि 4. टीका 5. टब्बा एवं लोक भाषा में लिखित साहित्य।

## निर्युक्ति साहित्य

जैन आगम साहित्य पर सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में लिखी गई



पद्यबद्ध टीकाएँ निर्युक्तियों के नाम से जानी जाती हैं। निर्युक्ति का अर्थ है – सूत्र में विद्यमान अर्थ की व्याख्या करना। निर्युक्तियों की व्याख्या शैली निक्षेप पद्धति है। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु कौनसा अर्थ किस प्रसंग के लिए उपयुक्त है, यही स्पष्ट करना निर्युक्ति का उद्देश्य है। दूसरे शब्दों में सही दृष्टि से शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध स्थापित करना ही निर्युक्ति है। प्राकृत गाथाओं में लिखी गई ये निर्युक्तियाँ विषय का संक्षिप्त रूप से प्रतिपादन करती हैं। विषय का प्रतिपादन करने के लिए तथा विवेच्य विषय को समझाने के लिए इन निर्युक्तियों में अनेक दृष्टान्तों व कथानकों का भी उपयोग किया गया है, परन्तु उनका वहाँ उल्लेख मात्र है, विशेष वर्णन नहीं है। इस दृष्टि से यह साहित्य इतना सांकेतिक है कि उन्हें भाष्य व टीका के बिना सम्यक् प्रकार से नहीं जाना जा सकता है। संभवतः कंठस्थ करने की दृष्टि से निर्युक्तियाँ इस प्रकार की संकेत शैली में लिखी गई थीं।

व्याख्या साहित्य में निर्युक्तियाँ सर्वाधिक प्राचीन हैं। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु माने गये हैं। ये भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली, छेदसूत्र के रचयिता भद्रबाहु से पृथक हैं। इन्होंने आगम संकलन काल (ई. सन् की चौथी पाँचवीं शताब्दी के लगभग) से ही निर्युक्तियाँ लिखना प्रारम्भ कर दिया था। भद्रबाहु ने निम्न दस सूत्रों पर निर्युक्तियों की रचना की।

1. आवश्यक
2. दशवैकालिक
3. उत्तराध्ययन
4. आचारांग
5. सूत्रकृतांग
6. दशाश्रुतस्कन्ध
7. बृहत्कल्प
8. व्यवहार
9. सूर्यप्रज्ञप्ति
10. ऋषिभाषित

इनमें से ऋषिभाषित एवं सूर्यप्रज्ञप्ति की निर्युक्तियाँ अप्राप्य हैं। इसके अतिरिक्त पिण्डनिर्युक्ति एवं ओघनिर्युक्ति आदि का भी उल्लेख मिलता है, जो मुनियों के आचार वर्णन की दृष्टि से इतनी महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं कि कहीं कहीं उनकी गणना 45 मूल आगमों में भी की गई है। कुछ परम्पराएँ ओघनिर्युक्ति को आवश्यकनिर्युक्ति का तथा पिण्डनिर्युक्ति को दशवैकालिकनिर्युक्ति का ही अंश मानकर स्वतंत्र नहीं मानती हैं।

भद्रबाहु की इन निर्युक्तियों में श्रमण-जीवन से सम्बन्धित सभी

विषयों पर चर्चा हुई है। इनमें आवश्यकनिर्युक्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। श्रमण—जीवन की सफल साधना के लिए अनिवार्य सभी प्रकार के विधि—विधानों का संक्षिप्त एवं सुव्यवस्थित निरूपण आवश्यकनिर्युक्ति की एक बहुत बड़ी विशेषता है। इसमें पाँचों ज्ञान, षड्आवश्यक आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का विस्तार से विवेचन हुआ है। षड्आवश्यक के प्रथम आवश्यक सामायिक के अन्तर्गत नमस्कार मंत्र पर उत्पत्ति, निक्षेप, पद आदि 11 दृष्टियों से विचार किया गया है। आचारांग आदि अन्य निर्युक्तियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें लौकिक कथाओं एवं सूक्तियों के माध्यम से सूत्रों के अर्थ को समझाने का प्रयत्न किया गया है। जैन तत्त्वज्ञान, पौराणिक परम्पराएँ, अर्ध ऐतिहासिक घटनाएँ आदि इनमें वर्णित हैं। जैन संस्कृति, जीवन—व्यवहार तथा चिन्तन क्रम के अध्ययन की दृष्टि से ये निर्युक्तियाँ उपयोगी हैं।

## भाष्य साहित्य

निर्युक्ति साहित्य सांकेतिक भाषा में लिखा गया था। अतः आगमों के गूढ़ सूत्रों के तात्पर्यों को समझने के लिए तथा निर्युक्तियों में छिपे अर्थ—बाहुल्य को स्पष्ट करने के लिए जो आगम व्याख्याएँ लिखी गईं, वे भाष्य साहित्य के रूप में विख्यात हुई हैं। भाष्य भी प्राकृत गाथाओं में लिखे गये हैं तथा निर्युक्तियों की तरह भाष्य भी संक्षिप्त ही हैं। निर्युक्तियों व भाष्यों की शैली इतनी मिलती—जुलती है कि कई बार दोनों की गाथाओं का मिश्रण हो जाता है।

भाष्य—साहित्य में अर्धमागधी प्राकृत के साथ—साथ मागधी व शौरसेनी का प्रयोग भी मिलता है। भाष्यों का लेखन काल लगभग ई. सन् की चौथी—पाँचवीं शताब्दी माना गया है। भाष्यकारों में संघदासगणि क्षमाश्रमण तथा जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण प्रमुख हैं। सभी आगम ग्रन्थों पर भाष्यों की रचना नहीं हुई, अपितु कुछ भाष्य निर्युक्तियों पर लिखे गये हैं और कुछ भाष्य मूलसूत्रों पर लिखे गये हैं। मुख्य रूप से जिन ग्रन्थों पर भाष्यों की रचना हुई है, वे निम्न हैं —

1. आवश्यक
2. दशवैकालिक
3. उत्तराध्ययन
4. बृहत्कल्प

5. पंचकल्प      6. व्यवहार      7. निशीथ      8. जीतकल्प  
9. ओघनिर्युक्ति      10. पिण्डनिर्युक्ति ।

सभी भाष्यों के रचयिता आचार्यों के नाम अभी ज्ञात नहीं हैं। बृहत्कल्प—लघुभाष्य एवं पंचकल्प—महाभाष्य के रचयिता संघदासगणि तथा विशेषावश्यकभाष्य व जीतकल्पभाष्य के रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण माने जाते हैं। प्राचीन श्रमण—जीवन व संघ के इतिहास व परम्पराओं को जानने की दृष्टि से भाष्य साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस साहित्य में अनेक प्राचीन अनुश्रुतियों, लौकिक कथाओं और मुनियों के परम्परागत आचार—विचार की विधियों का प्रतिपादन हुआ है। विशेषावश्यकभाष्य में जैन आगमों में वर्णित ज्ञान, प्रमाण, नयनिक्षेप, स्याद्वाद, कर्मसिद्धान्त, आचार आदि अनेक विषयों का विवेचन अत्यन्त सहज रूप से हुआ है। जैन दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना अन्य दार्शनिक विचारधाराओं के साथ करते हुए जैन आगम साहित्य की मान्यताओं का तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। जीतकल्पभाष्य में जीतव्यवहार के आधार पर जो प्रायश्चित्त दिये जाते हैं, उनका वर्णन है। बृहत्कल्प—लघुभाष्य में श्रमणों के आचार—विचार का तार्किक दृष्टि से सूक्ष्म विवेचन किया गया है। यह भाष्य ग्रन्थ तत्कालीन, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों की झाँकी भी प्रस्तुत करता है। निशीथभाष्य में अनेक सरस एवं मनोरंजक कथाओं के माध्यम से विविध श्रमणाचार का निरूपण हुआ है। व्यवहारभाष्य में श्रमण के आचार—व्यवहार, तप, आलोचना, प्रायश्चित्त, बाल—दीक्षा की विधि आदि के अतिरिक्त प्रसंगवश विभिन्न देशों के रीति—रिवाजों आदि का भी वर्णन है। स्पष्ट है कि भाष्य साहित्य में धर्म—दर्शन एवं मनोविज्ञान का विश्लेषण हुआ है, भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के विकास की दृष्टि से भी यह हमारी अनमोल निधि है।

## चूर्णि साहित्य

निर्युक्ति व भाष्य साहित्य सांकेतिक व पद्यबद्ध रूप में था। अतः आगमों के गूढ़ सूत्रों को अधिक स्पष्टता व विशदता से बोधगम्य करने हेतु गद्य में व्याख्या करने का क्रम चला जो चूर्णि—साहित्य के रूप में प्रचलित

हुआ। चूर्णियाँ केवल प्राकृत में ही नहीं लिखी गई हैं, अपितु प्राकृत के साथ-साथ इनमें संस्कृत का भी प्रयोग है। अतः चूर्णियों की भाषा मिश्र प्राकृत कहलाती है। सामान्य रूप से चूर्णियों के कर्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं। इनका समय लगभग छठी-सातवीं शताब्दी माना गया है। निम्न आगमों पर चूर्णियाँ लिखी गई हैं—

- |                 |                           |                       |                   |
|-----------------|---------------------------|-----------------------|-------------------|
| 1. आचारांग      | 2. सूत्रकृतांग            | 3. व्याख्याप्रज्ञप्ति | 4. जीवाजीवाभिगम   |
| 5. निशीथ        | 6. महानिशीथ               | 7. व्यवहार            | 8. दशाश्रुतस्कन्ध |
| 9. बृहत्कल्प    | 10. पंचकल्प               | 11. ओघनिर्युक्ति      | 12. जीतकल्प       |
| 13. उत्तराध्ययन | 14. आवश्यक                | 15. दशवैकालिक         | 16. नंदी          |
| 17. अनुयोगद्वार | 18. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति। |                       |                   |

आगमिक-व्याख्या-साहित्य में चूर्णि साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चूर्णि साहित्य में जैनधर्म व दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है। नंदीचूर्णि में केवलज्ञान व केवलदर्शन के क्रम पर विशेष चर्चा की गई है। आचार्य ने केवलज्ञान व केवलदर्शन के क्रमभावित्व का समर्थन किया है। आवश्यकनिर्युक्ति में निर्दिष्ट किये गये विषयों का विस्तार से विवेचन आवश्यकचूर्णि में किया गया है। विवेचन की सरलता, सरसता एवं स्पष्टता की दृष्टि से अनेक प्राचीन ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यान भी उद्धृत किये हैं। सूत्रकृतांगचूर्णि में विविध दार्शनिक मतों का चिन्तन किया गया है। चूर्णियों में वर्ण्य विषय को स्पष्ट करने हेतु प्रसंगानुसार प्राकृत की अनेक कथाएँ आई हैं, जो तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक व लौकिक तीनों ही पक्षों को उद्घाटित करती हैं। निशीथ-विशेष-चूर्णि तथा आवश्यकचूर्णि में वर्णित कथाएँ तो ऐतिहासिक, सामाजिक एवं पुरातात्त्विक सामग्रियों का भंडार ही हैं। प्राचीन लोकजीवन की इनमें सशक्त प्रस्तुति हुई है। ऋषभदेव, महावीर, श्रेणिकराजा, अभयकुमार, राजा चेटक, आर्यरक्षित, वररुचि आदि ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन-चरित भी इनमें वर्णित हैं। वस्तुतः चूर्णि साहित्य में निगूढ़ भावों को लोक कथाओं के माध्यम से समझाने का प्रयास किया गया है। प्राकृत भाषा के भाषा-शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से भी ये चूर्णियाँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

## टीका साहित्य

दार्शनिक दृष्टि से आगम साहित्य को और अधिक विस्तार से समझाने हेतु प्राचीन मनीषी आचार्यों द्वारा जिस साहित्य की रचना की गई, वह टीका साहित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। टीकाएँ संस्कृत में लिखी गई हैं। कहीं कहीं तथा विशेषतः कथानकों में प्राकृत का आश्रय लिया गया है। टीकाओं की रचनाओं का क्रम तीसरी शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गया था। वि.सं. की तीसरी शताब्दी के आचार्य अगस्त्यसिंह ने अपनी **दशवैकालिकचूर्णि** में अनेक स्थानों पर प्राचीन टीकाओं का संकेत किया है। आगम साहित्य पर सर्वप्रथम संस्कृत भाषा में टीका लिखने वाले जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं। उन्होंने अपने विशेषावश्यकभाष्य पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखी, जिसे बाद में कोट्याचार्य ने पूर्ण की। वर्तमान में जो टीकाग्रन्थ प्राप्त हैं, उनमें आचार्य हरिभद्रसूरि (आठवीं शताब्दी) के ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी **आवश्यक, दशवैकालिक, नंदी एवं अनुयोगद्वार** पर टीकाएँ उपलब्ध हैं। इनके पश्चात् आचारांग व सूत्रकृतांग पर आचार्य शिलाकाचार्य (ई.सन्. 876) की टीकाएँ उपलब्ध हैं। अन्य महत्त्वपूर्ण टीकाओं में वादिवेताल शान्तिसूरि द्वारा लिखित **उत्तराध्ययनटीका** तथा नेमिचन्द्रसूरि द्वारा रचित उत्तराध्ययन की **सुखबोधा टीका** अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों ही टीकाग्रन्थों में अनेक प्राकृत कथाएँ एवं आख्यान वर्णित हैं, जो प्राकृत कथा साहित्य के विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। 12वीं शताब्दी के विद्वान अभयदेवसूरि नवांगी टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशांग, अंतकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकसूत्र आदि आगमों पर टीकाएँ लिखी हैं। अपने इन टीका ग्रन्थों में उन्होंने आगमिक गूढ़ बातों को अत्यंत सरलता व सुगमता के साथ अभिव्यक्त किया है। आगम टीकाकारों में 12वीं शताब्दी के आचार्य मलयगिरि का स्थान भी विशिष्ट रहा है। उन्होंने अनेक आगम-ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं। अन्य टीकाकारों में द्रोणाचार्य, हेमचन्द्र, क्षेमकीर्ति आदि आचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं।

आगम ग्रन्थों पर लिखी गई ये टीकाएँ अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें केवल आगमिक सिद्धान्तों व तत्त्वों का ही विवेचन नहीं हुआ है,

अपितु जैनेतर दार्शनिक परम्पराओं का भी समुचित आकलन मिलता है। सांस्कृतिक दृष्टि से तत्कालीन, सामाजिक, राजनैतिक, भौगोलिक, ज्योतिषिक आदि तथ्यों का इनमें विस्तार से निरूपण हुआ है। साहित्य, भाषा—विज्ञान एवं व्याकरण के अध्ययन की दृष्टि से भी ये ग्रन्थ उपयोगी हैं।

## टब्बा एवं लोक भाषा में लिखित साहित्य

इस प्रकार संस्कृत व प्राकृत भाषाओं में विराट टीका साहित्य लिखा गया, किन्तु टीकाओं व व्याख्याओं की भाषा संस्कृत—प्राकृत प्रधान होने के कारण जन—साधारण के लिए उन्हें समझ पाना बहुत कठिन था। अतः इन दोनों भाषाओं से अनभिज्ञ जन—साधारण को समझाने हेतु आगे चलकर हिन्दी व लोकभाषाओं में सरल, सुबोध एवं संक्षिप्त टीकाएँ लिखी गईं। ये टीकाएँ शब्दार्थ प्रधान थीं। इनमें पार्श्वचन्द्रगणि (16वीं शताब्दी) की आचारांग व सूत्रकृतांग पर **बालावबोध** रचनाएँ प्रमुख हैं। इसके पश्चात् 18वीं शताब्दी में मुनि धर्मसिंहजी ने करीब 27 आगमों पर टब्बे लिखे, जो साधारण व्यक्ति के लिए आगमों के अर्थ को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए। इस टब्बा युग के बाद अनुवाद युग का प्रारम्भ हुआ। इस युग में विभिन्न आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा मुख्य रूप से अंग्रेजी, हिन्दी व गुजराती में आगमों का अनुवाद किया गया।

इस प्रकार आगमिक गूढ सूत्रों के गंभीर रहस्यों को समझाने हेतु समय—समय पर युग के अनुकूल आगमों पर विराट व्याख्या—साहित्य लिखा जाता रहा। इस व्याख्या—साहित्य द्वारा जहाँ एक ओर आगमों की दुरुह व गूढ बातों को समझना आसान हुआ, वहीं दूसरी ओर इस विराट साहित्य में प्रयुक्त कथाएँ तथा दृष्टांत ऐतिहासिक व सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं। वस्तुतः यह विशाल साहित्य हमारी अमूल्य सांस्कृतिक विरासत है।

## सहायक ग्रन्थ

1. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा – ले. देवेन्द्रमुनि शास्त्री, तारकगुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर
2. जैनागम दिग्दर्शन – ले. नगराज मुनि, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
3. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग – 1) – ले. पं. बेचरदास दोशी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी– 5
4. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग – 2) – ले. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन व डॉ. मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी– 5
5. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग – 3) – ले. डॉ. मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी– 5
6. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास–ले. डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी
7. प्राकृत साहित्य का इतिहास – ले. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
8. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान–ले. डॉ. हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद, भोपाल
9. जिनवाणी (जैनागम साहित्य–विशेषांक 2002 अंक 1, 2, 3, 4) – सं. डॉ. धर्मचन्द्र जैन, सम्यग्ज्ञान, प्रचारक मण्डल, जयपुर



## शौरसेनी आगम साहित्य

मथुरा से प्राप्त शिलालेखों से यही प्रमाण मिलता है कि ईसा की पहली शताब्दी तक दिगम्बर व श्वेताम्बर परम्परा भेद का आविर्भाव नहीं हुआ था। दोनों सम्प्रदायों के उपलब्ध प्राचीन साहित्य में भी कई समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। उत्तराध्ययन व मूलाचार की अनेक गाथाओं के विषय अक्षरशः समान हैं, किन्तु ई. सन् की पहली शताब्दी के पश्चात् अचेलत्व के प्रश्न को लेकर एवं आगमों को स्वीकारने के सम्बन्ध में दोनों सम्प्रदायों की मान्यताएँ अलग-अलग हो गईं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार द्वादशांगी का विच्छेद हो गया है, केवल दृष्टिवाद का कुछ अंश शेष है, जो षट्खण्डागम और कषायपाहुड नामक ग्रन्थों में मौजूद है। षट्खण्डागम व कषायपाहुड की गणना इस परम्परा में आगम ग्रन्थों के रूप में ही की जाती है। इनकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है। इन प्रमुख ग्रन्थों के साथ-साथ आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ एवं शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध मूलाचार, भगवती आराधना आदि अन्य प्राचीन ग्रन्थ भी आगम तुल्य माने जाते हैं। विभिन्न विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में शौरसेनी साहित्य पर विशेष प्रकाश डाला है। उन्हीं के आधार पर शौरसेनी आगम साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

### छव्खंडागमो

वीर निर्वाण के लगभग 683 वर्ष बाद मौखिक रूप से गुरु-शिष्य परम्परा में प्रवाहित आगम ज्ञान राशि धीरे-धीरे विलुप्त होने लगी। द्वादशांगी का थोड़ा अंश आचार्य धरसेन को स्मरण था। वे चौदह पूर्वों में द्वितीय पूर्व के महाकर्मप्रकृति नामक चतुर्थ पाहुड के विज्ञाता थे। उन्होंने यह सोचकर कि यह श्रुतज्ञान कहीं विलुप्त न हो जाय, अतः महिमानगरी में होने वाले मुनि सम्मेलन को पत्र भेजकर समर्थ साधक भेजने का अनुरोध किया। फलस्वरूप ज्ञान ध्यान में अनुरक्त, प्रज्ञावान पुष्पदंत व भूतबलि नामक दो साधु वहाँ पहुँचे। परीक्षा लेने के पश्चात् आचार्य धरसेन



ने उन दोनों महामेधावी शिष्यों को महाकर्मप्रकृतिप्राभृत रूप आगम ज्ञान देना प्रारंभ किया। दोनों शिष्यों ने भक्ति व निष्ठा पूर्वक इस आगम ज्ञान को धारण कर उसके आधार पर सूत्र रचना का कार्य प्रारम्भ कर दिया और आचार्य धरसेन के संरक्षण में षट्खण्डागम की रचना की। पुष्पदंत व भूतबलि द्वारा आगम लिपिबद्ध करने का यह नूतन प्रयास समकालीन तथा परवर्ती सभी आचार्यों द्वारा प्रशंसित किया गया है। इस आगम ग्रन्थ का रचना काल विद्वानों द्वारा लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी माना गया है।

षट्खण्डागम के छः खण्ड हैं। प्रथम खण्ड जीवद्वानं में आठ अनुयोगद्वार तथा नौ चूलिकाएँ हैं, जिसमें गुणस्थान एवं मार्गणाओं का आश्रय लेकर जीव की नाना अवस्थाओं का निरूपण हुआ है। यह भी चिंतन किया गया है कि कौन जीव किस प्रकार से सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र को प्राप्त कर सकता है। द्वितीय खण्ड खुद्वाबंध के 11 अधिकारों में केवल मार्गणास्थानों के अनुसार कर्मबंध करने वाले जीव का वर्णन है। तृतीय खण्ड बंधसामित्तविचय में गुणस्थान व मार्गणास्थान के आधार पर कर्मबंध करने वाले जीव का निरूपण किया गया है। किन कर्मप्रकृतियों के बंध में कौन जीव स्वामी है और कौन जीव स्वामी नहीं है, इस पर भी चिंतन किया गया है। चतुर्थ वेयणाखंड में कृति और वेदना ये दो अनुयोगद्वार हैं। वेदना के कथन की इसमें प्रधानता है। पाँचवें वर्गणाखण्ड के प्रारम्भ में स्पर्श, कर्म एवं प्रकृति नामक तीन अनुयोगद्वारों का प्रतिपादन है। वर्गणाखंड का प्रधान अधिकार बंधनीय है, जिसमें बंध, बन्धक और बन्धनीय इन तीन की मुख्य रूप से प्ररूपणा की गई है। छठे खण्ड महाबन्ध में प्रकृति, प्रदेश, स्थिति एवं अनुभाग बंध का विस्तार से विवेचन है। अपनी विशालता के कारण यह खण्ड पृथक ग्रन्थ भी माना जाता है।

## षट्खण्डागम के टीका ग्रन्थ

षट्खण्डागम पर समय-समय पर परिकर्म, व्याख्याप्रज्ञप्ति आदि अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इनमें से आचार्य वीरसेन द्वारा लिखी गई धवला टीका प्रमुख है। आचार्य वीरसेन ने बप्पगुरुदेव की व्याख्याप्रज्ञप्ति

टीका के आधार पर षट्खण्डागम के प्रारम्भिक पाँच खंडों पर इस टीका ग्रन्थ की रचना की है। इसका रचना काल शक संवत् 738 अर्थात् ई. सन् 816 माना गया है। यह टीका 72,000 श्लोक, प्रमाण है। यह टीका ग्रन्थ प्राकृत-संस्कृत मिश्रित भाषा में है। छठा खण्ड महाबन्ध स्वयं आचार्य भूतबलि द्वारा विस्तार से लिखा गया है। यह महाधवल के नाम से भी प्रसिद्ध है।

## कसायपाहुडं

आचार्य धरसेन के समकालीन आचार्य गुणधर हुए हैं। आचार्य गुणधर को द्वादशांगी का कुछ श्रुत स्मरण था। वे पाँचवें ज्ञानप्रवादपूर्व की दशम वस्तु के तीसरे कसायपाहुड के पारगामी थे। इसी आधार पर उन्होंने कषायप्राभृत नामक सिद्धान्त ग्रन्थ की रचना की। आचार्य गुणधर ने इसकी रचना कर नागहस्ति और आर्यमंक्षु को इसका व्याख्यान किया था। इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से क्रोधादि कषायों की राग-द्वेष परिणति, उनके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध सम्बंधी विशेषताओं का विवेचन किया गया है। अतः इसका दूसरा नाम पेज्जदोसपाहुड भी प्रचलित है। यह ग्रन्थ 233 गाथा सूत्रों में विरचित है। ये सूत्र अत्यंत संक्षिप्त होते हुए भी गुढार्थ आध्यात्मिक रहस्यों को अपने में समेटे हुए हैं। इस ग्रन्थ में 15 अधिकार हैं —

1. पेज्जदोसविभक्ति
2. स्थितिविभक्ति
3. अनुभागविभक्ति
4. प्रदेशविभक्ति—झीणाझीणस्थित्यन्तिक
5. बन्धक अधिकार
6. वेदक अधिकार
7. उपयोग अधिकार,
8. चतुःस्थान अधिकार,
9. व्यंजन अधिकार
10. दर्शनमोहोपशमना
11. दर्शनमोहक्षपणा
12. संयमासंयमलब्धि
13. संयमलब्धि अधिकार
14. चारित्रमोहोपशमना
15. चारित्रमोहक्षपणा ।

इनमें प्रारम्भ के आठ अधिकारों में संसार के कारणभूत मोहनीय कर्म की और अन्तिम सात अधिकारों में आत्म-परिणामों के विकास से शिथिल होते हुए मोहनीय कर्म की विविध दशाओं का वर्णन है। मोहनीय कर्म किस स्थिति में किस कारण से आत्मा के साथ सम्बन्धित होते हैं और

उस सम्बन्ध का आत्मा के साथ किस प्रकार सम्मिश्रण होता है, किस प्रकार उनमें फलदानत्व घटित होता है, और कितने समय तक कर्म आत्मा के साथ लगे रहते हैं, इसका विस्तृत और स्पष्ट विवेचन इस ग्रन्थ में हुआ है। मोहनीय कर्म में दर्शन—मोहनीय व चारित्र—मोहनीय दोनों ही गर्भित हैं। मोहनीय कर्म का इतना सूक्ष्मतम व मौलिक विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

आचार्य यतिवृषभ ने इस ग्रन्थ पर 6,000 श्लोक प्रमाण **पाहुडचुणिसुत्त** नामक चूर्णि की रचना की है, जिसमें राग—द्वेष का विशेष विवेचन अनुयोगद्वारों के आधार पर किया गया है। कषायपाहुड पर आचार्य वीरसेन और उनके शिष्य जिनसेन ने **जयधवला** टीका लिखी। 20,000 श्लोक प्रमाण लिखने के पश्चात् आचार्य वीरसेन स्वर्गवासी हो गये। तब उनके शिष्य आचार्य जिनसेन ने अवशिष्ट भाग पर 40,000 श्लोक प्रमाण लिख कर ई. सन् 837 में इस टीका ग्रन्थ को पूरा किया।

### आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनके ग्रन्थ

प्राकृत भाषा के महान विद्वान् तथा जैन सिद्धान्त साहित्य के प्ररूपक आचार्य कुन्दकुन्द का नाम जैनाचार्यों में सर्वप्रथम लिया जाता है। भगवान् महावीर एवं गौतम गणधर के पश्चात् **मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो** कहकर किसी भी मंगल कार्य के प्रारंभ में उनका स्मरण किया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द दक्षिण भारत के निवासी थे। उनका मूल नाम पद्मनन्दी था। उनके अपर नामों में वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य आदि का भी उल्लेख मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द के समय को लेकर विद्वानों में मतभेद है। डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर इनका समय ई. सन् की प्रथम शताब्दी माना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भारतीय संस्कृति को तत्त्वज्ञान ही नहीं, अध्यात्म प्रधान आचार—विचार भी प्रदान किये हैं। उन्होंने आत्म—ज्ञान व आध्यात्मिक साहित्य द्वारा भौतिक सुखों व सांसारिक लिप्सा को त्यागने का मार्ग बताकर भौतिकता के अंधकार में आध्यात्मिकता की ज्योति को प्रज्वलित किया। उनके अनुसार ज्ञान व दर्शन के साथ चारित्र का समन्वय करने पर ही मुक्ति शीघ्रतागामी हो सकती है। आत्मा की मुक्ति के लिए उन्होंने बाह्य संयमित जीवन के साथ—साथ ध्यान व तपश्चरण पर भी बल दिया।

वस्तुतः आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने वाङ्मय द्वारा मानव मात्र के हित का मार्ग प्रशस्त किया है। उनके उपदेश मानवीय गुणों के विकास का ही संदेश देते हैं। लोक-कल्याण की भावना उनकी रचनाओं में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। **बोधपाहुड** में धर्म की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा है **धम्मो दया विसुद्धो ( गा. 25 )** अर्थात् धर्म वही है जो दया या अनुकंपा से युक्त हो। उनका मानना था कि धर्म में सच्ची श्रद्धा मनुष्य को पापरहित, दृढ़ एवं मानवीय गुणों से युक्त बनाती है। आचार्य कुन्दकुन्द आगम परम्परा के संवाहक आचार्य के साथ ही एक ऐसे क्रान्तिकारी सन्त थे, जिन्होंने अनेकान्त शैली अपनाकर दर्शन व आचार के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये। उनकी दृष्टि सहिष्णु व उदार थी। अन्य धर्मों के प्रति भी उनके मन में आदर व सम्मान था। उनका कहना था कि सभी सम्प्रदाय व मत मानव के कल्याण के लिए होने चाहिये। अतः किसी भी धर्म या मत के पालन में मनुष्य को रोक-टोक नहीं होनी चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाएँ उनके बहुआयामी व्यक्तित्व की द्योतक हैं। मानव के आध्यात्मिक विकास हेतु उन्होंने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनकी सभी रचनाएँ शौरसेनी प्राकृत में हैं। उनकी प्रमुख रचनाओं का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

## पवयणसारो

प्रवचनसार की गणना शौरसेनी आगम साहित्य में द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत की जाती है। इस ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार इसमें 275 गाथाएँ हैं तथा आचार्य जयसेन के अनुसार 317 गाथाएँ हैं। यह ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त करके लिखा गया है। प्रत्येक भाग के प्रारम्भ में महत्त्वपूर्ण मंगलाचरण की गाथाएँ हैं। प्रथम भाग ज्ञानाधिकार में आत्मा व ज्ञान के एकत्व पर बल दिया गया है यथा - **जो जाणदि सो णाणं हवदि । ( गा. 36 )** अर्थात् जो जानता (ज्ञाता) है वह ज्ञान है। इस अधिकार में केवलज्ञान का विशिष्ट विवेचन हुआ है। केवलज्ञान की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि जीव जब सम्पूर्ण रूप से केवलज्ञान को प्राप्त होता है, तब जीव, पुद्गलादि द्रव्यों की समस्त अतीत, वर्तमान

एवं अनागत पर्यायें उस केवलज्ञानी के ज्ञान में प्रतिभासित हो जाती हैं। वह उन सभी पर्यायों को जानते व देखते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होता है। इसके अतिरिक्त इस अधिकार में इन्द्रिय-अतीन्द्रिय सुख, शुभ-अशुभ व शुद्धोपयोग तथा मोहक्षय का भी निरूपण हुआ है। दूसरे भाग ज्ञेयाधिकार में षड्द्रव्यों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। द्रव्य को सत् अर्थात् उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य युक्त कहा है। इसके अतिरिक्त इस अधिकार में जीव का लक्षण, जीव व पुद्गल का सम्बंध, निश्चय-व्यवहारनय का अविरोध व शुद्धात्म स्वरूप आदि विषयों का विवेचन किया है। तीसरे चारित्राधिकार में मुनि की बाह्य व आभ्यान्तरिक क्रियाओं की शुद्धता का प्रतिपादन हुआ है। इस सन्दर्भ में दीक्षा-विधि, छेद का स्वरूप, युक्त आहार, उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग आदि का विवेचन हुआ है। वस्तुतः प्रवचनसार एक शास्त्रीय ग्रन्थ के साथ-साथ नव दीक्षित श्रमण हेतु एक व्यवहारिक नियम पुस्तिका भी है, जो आचार्य कुन्दकुन्द की आध्यात्मिक अनुभूति से ही प्रकट हुई है।

## समयसारो

**वोच्छामि समयपाहुडमिणमो** - समयसार के प्रारम्भ में आई इस

गाथा से स्पष्ट होता है कि कुन्दकुन्द को इस ग्रन्थ का नाम समयपाहुड अभीष्ट था। किन्तु प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थों की परम्परा में इसका नाम समयसार प्रचलित हो गया। **समय** के दो अर्थ हैं, आत्मा या समस्त पदार्थ। इस दृष्टि से जिसमें आत्मा या सभी पदार्थों का सार वर्णित है, वही समयसार है। समयसार एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। शुद्ध आत्म-तत्त्व का विवेचन जिस व्यापकता से इसमें हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। समय की व्याख्या करते हुए ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहा है कि जब जीव सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र में स्थित हो, तो उसे स्वसमय जानो तथा जब पुद्गल कर्म-प्रदेशों में स्थित हो, तो उसे परसमय जानो। शुद्धात्म तत्त्व का निरूपण करने वाला यह ग्रन्थ 10 अधिकारों में विभक्त है। इन अधिकारों में क्रमशः शुद्ध-अशुद्धनय, जीव-अजीव, कर्म-कर्त्ता, पाप-पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष एवं सर्व विशुद्ध ज्ञान का विवेचन हुआ है।

## पंचस्थिकायो

पंचास्तिकाय में आचार्य कुन्दकुन्द ने जिनदेव भगवान् महावीर के सिद्धान्तों के सार को संक्षिप्त रूप से निरूपित किया है। इस ग्रन्थ में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म व आकाश इन पाँचों द्रव्यों का विवेचन किया गया है। इन्हें बहुप्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय रूप कहा है। यह ग्रन्थ दो अधिकारों में विभक्त है। प्रथम अधिकार में द्रव्य का लक्षण, द्रव्य-पर्याय तथा द्रव्य-गुण की अभेदता एवं पाँचों अस्तिकायों का विशेष व्याख्यान किया है। द्वितीय अधिकार में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, पाप, पुण्य, संवर, निर्जरा व मोक्ष इन नौ पदार्थों के साथ मोक्ष-मार्ग का भी निरूपण किया है। मोक्ष-मार्ग प्राप्ति में राग को बाधक बताया है तथा किञ्चित मात्र राग का भी आचार्य ने निषेध किया है। यथा—

**तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदि मा किञ्चि ।**

**सो तेण वीदरागो भविओ भवसायरं तरदि ॥ ( गा. 172 )**

अर्थात् — निर्वाण मार्ग के अभिलाषी को किञ्चित मात्र भी राग नहीं करना चाहिए। इसी से वह वीतरागी हुआ संसार सागर को पार कर जाता है।

## नियमसारो

नियमसार आचार्य कुन्दकुन्द की आध्यात्मिक रचना है। इसमें मिथ्यादर्शनादि को त्यागने तथा शुद्धभाव में स्थित आत्मा की आराधना का कथन किया गया है। इस ग्रन्थ में 186 गाथाएँ हैं, जो 12 अधिकारों में विभक्त हैं। नियम का अर्थ है — मोक्ष प्राप्ति का मार्ग। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ में सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र को मोक्ष प्राप्ति का मार्ग कहा है—

**सम्मत्तणाणचरणो जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो ।**

**तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥ ( गा. 134 )**

अर्थात् — जो श्रमण या श्रावक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भक्ति करता है, वह निश्चित रूप से निर्वाण की भक्ति होती है। ऐसा जिनेन्द्रों द्वारा कहा गया है।

## अष्टपाहुडं

अष्टपाहुड (अष्टप्राभृत) आचार्य कुन्दकुन्द के आठ संक्षिप्त ग्रन्थ हैं, परन्तु संकलन में एक साथ प्रकाशित होने के कारण अष्टपाहुड के नाम से प्रसिद्ध हैं। **दर्शनपाहुड** में 36 गाथाओं में सम्यग् दर्शन की महत्ता का निरूपण करते हुए कहा गया है कि सम्यग् दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी नहीं हो सकता। **चारित्रपाहुड** में 44 गाथाओं में सम्यग् दर्शनादि रत्नत्रय का निरूपण करते हुए चारित्र के सम्यक्त्व का वर्णन किया है। **सूत्रपाहुड** की 27 गाथाओं में आगम ज्ञान के महत्त्व को बताते हुए उसके अनुसार आचरण की प्रेरणा दी गई है। **बोधपाहुड** में 62 गाथाओं में चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, जिनबिम्ब, आत्मज्ञान, प्रव्रज्या आदि का बोध दिया गया है। **भावपाहुड** की 163 गाथाओं में चित्त-विशुद्धि पर बल देते हुए कहा गया कि इसके बिना तप भी सिद्धि में सहायक नहीं हो सकता है। **मोक्षपाहुड** की 106 गाथाओं में आत्म-तत्त्व का विस्तार से विवेचन करते हुए बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा इन तीनों के स्वरूप को समझाया है। **लिंगपाहुड** में 22 गाथाओं में श्रमण के लिंग (चिन्ह) को लक्ष्य कर मुनिधर्म का निरूपण किया है तथा **शीलपाहुड** की 40 गाथाओं में शील की महत्ता को स्पष्ट कर उसे मोक्ष प्राप्ति में सहायक कहा है। इन प्रमुख ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द के कुछ अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। **रणसार** में रत्नत्रय का विवेचन है। **बारसाणुवेक्खा** में बारह अनुप्रेक्षाओं का निरूपण किया है तथा **भत्तिसंगहो** में तीर्थकरों व पंचपरमेष्ठी की स्तुति की गई है।

## तिलोयपण्णत्ती

त्रिलोकप्रज्ञप्ति शौरसेनी प्राकृत भाषा में रचित करणानुयोग का प्राचीनतम ग्रन्थ है। धवला टीका में इस ग्रन्थ के अनेक उदाहरण उद्धृत हुए हैं। यह ग्रन्थ 8,000 श्लोक प्रमाण है। ग्रन्थ के अन्त में बताया गया है—**अट्टसहस्सप्रमाणं तिलोयपण्णतिणामाए** अर्थात् आठ हजार श्लोक प्रमाण इस ग्रन्थ की रचना की गई है। इसके कर्ता कषायप्राभृत पर चूर्णिसूत्र के रचयिता आचार्य यतिवृषभ हैं। इस ग्रन्थ में दृष्टिवाद, मूलाचार, परिकर्म,

लोकविभाग आदि प्राचीन ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं। इस ग्रन्थ में त्रिलोक की रचना के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। तीनों लोक के स्वरूप, आकार, प्रकार, विस्तार, क्षेत्रफल और युग-परिवर्तन आदि विषयों का विस्तार से विवेचन हुआ है। यह ग्रन्थ 9 अधिकारों में विभक्त है।

- |                |               |               |
|----------------|---------------|---------------|
| 1. सामान्यलोक  | 2. नरकलोक     | 3. भवनवासीलोक |
| 4. मनुष्यलोक   | 5. तिर्यक्लोक | 6. व्यन्तरलोक |
| 7. ज्योतिर्लोक | 8. देवलोक     | 9. सिद्धलोक।  |

इन अधिकारों में मुख्यरूप से जैन भूगोल व खगोल का विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। दृष्टिवाद के आधार पर त्रिलोक की मोटाई, चौड़ाई व ऊँचाई का निरूपण किया गया है। नरकलोक, भवनवासी देवों के स्वरूप, जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, लवणसमुद्र, तीर्थकरों के जन्मस्थल, व्यन्तरदेवों, ज्योतिषीदेवों व वैमानिकदेवों की स्थिति, स्थान, परिवार, सुखभोग एवं सिद्धों के क्षेत्र, संख्या, अवगाहना आदि का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत हुआ है। इस ग्रन्थ का विषय सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, धवला, जयधवला आदि ग्रन्थों से काफी मिलता-जुलता है। प्रसंगानुसार जैन सिद्धान्त, पुराण एवं इतिहास के विभिन्न तथ्यों पर भी चर्चा की गई है। प्राचीन गणित के अध्ययन के लिए भी यह ग्रन्थ उपयोगी है।

## भगवती आराधना

भगवती आराधना शौरसेनी साहित्य का एक प्राचीन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का मूल नाम **आराधना** है। किन्तु इसके प्रति श्रद्धा व पूज्य भाव व्यक्त करने की दृष्टि से **भगवती** विशेषण लगाया गया है। ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार ने **आराहणा भगवती** लिखकर आराधना के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है। वर्तमान में यह भगवती आराधना के नाम से ही प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य शिवार्य हैं। विद्वानों द्वारा इनका समय लगभग ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी माना जाता है। इस ग्रन्थ में 2166 गाथाएँ हैं, जो 40 अधिकारों में विभक्त हैं। इन गाथाओं में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप इन चार आराधनाओं का निरूपण हुआ है। वस्तुतः इन आराधनाओं के माध्यम से मुनिधर्म को ही समझाया गया है। ग्रन्थ के प्रारंभ



में ही दूसरी गाथा में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप के उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधना आदि को आराधना कहा है। यथा —

**उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं ।**

**दंसणणाणचरित्ततवाणमाराहणा भणिया ॥ ( गा. 2 )**

यद्यपि अन्य जैनागमों में भी सम्यग्ज्ञान—दर्शन—चारित्र व तप का विवेचन हुआ है, परन्तु वहाँ उन्हें आराधना शब्द से अभिव्यक्त नहीं किया गया है। इस ग्रन्थ में मरते समय की आराधना को ही यथार्थ आराधना कहा है। उसी के लिए जीवन भर की आराधना की जाती है। मरते समय विराधना होने पर जीवन भर की आराधना निष्फल हो जाती है। अतः जो मरते समय आराधक होता है, उसी की सम्यग्ज्ञान—दर्शन—चारित्र व तप रूप साधना को आराधना शब्द से परिभाषित किया है। इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से मरणसमाधि का कथन है। ग्रन्थ के आरम्भ में 17 प्रकार के मरण बताये गये हैं। इनमें से पंडितपंडितमरण, पंडितमरण और बालपंडितमरण को श्रेष्ठ कहा है। इसके अतिरिक्त इसमें आर्यिकाओं के लिए संघ—नियम, अचेलक्य, नाना देशों में विहार करने के गुण, संलेखना, ध्यान, लेश्या, बारह भावनाओं, आलोचना के गुणदोष, पंचनमस्कार मंत्र की महत्ता, मुनियों के मृतक संस्कार आदि का भी निरूपण हुआ है। प्रसंगवश गजकुमार, भद्रबाहु, विद्युच्चर, अश्वघोष, धर्मघोष आदि साधुओं की कथाएँ भी वर्णित हैं। श्री अपराजितसूरि ने इस पर अपनी टीका लिखी है।

## मूलाचारो

मूलाचार प्रमुख रूप से श्रमणाचार का प्राचीन ग्रन्थ है। शौरसेनी प्राकृत में रचित इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य वट्टकेर हैं। भाषा व विषय दोनों ही दृष्टियों से यह ग्रन्थ प्राचीन है। इसका रचनाकाल लगभग चतुर्थ शताब्दी माना गया है। इस ग्रन्थ में 12 अधिकार हैं, जिनमें श्रमण—निर्ग्रंथों की आचार संहिता का सुव्यवस्थित, विस्तृत एवं सांगोपांग विवेचन किया गया है। इसकी तुलना आचारांग से की जाती है। आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम की धवला टीका में मूलाचार के उद्धरण को 'आचारांग' नाम दे कर इसका आगमिक महत्त्व प्रतिपादित किया है। प्रथम मूलगुणाधिकार

में पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय—निरोध, छः आवश्यक आदि को मिलाकर श्रमण के 28 मूलगुणों के स्वरूप एवं उनके पालन से प्राप्त फल का विवेचन है। द्वितीय बृहत्प्रत्याख्यानाधिकार में श्रमण को सभी पापों का त्याग करने, कषाय रहित रहने, परीषहों को समताभाव से सहने, चार आराधनाओं में स्थिर रहने आदि का उपदेश दिया गया है। तीसरे संक्षेपप्रत्याख्यानाधिकार में आकस्मिक मृत्यु के समय कषाय व आहार त्याग का निर्देश दिया है। समाचाराधिकार में दस प्रकार के आचारों का वर्णन है। पंचाचाराधिकार में दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों का भेद सहित विस्तार से वर्णन है। प्रसंगवश इसमें आगम व सूत्र ग्रन्थों का भी उल्लेख हुआ है। पिण्डशुद्धिअधिकार में श्रमणों की पिण्डैषणा से सम्बन्धित नियमों की मीमांसा की गई है। षडावश्यकधिकार में 'आवश्यक' शब्द का अर्थ बताते हुए सामायिक, स्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान एवं कायोत्सर्ग इन छः आवश्यकों का भेदपूर्वक विस्तार से निरूपण किया है। इस अधिकार के प्रारम्भ में अर्हन्त, जिन, आचार्य, साधु आदि पंचनमस्कार की निरुक्तिपूर्वक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। द्वादशानुप्रेक्षाधिकार में अनित्य, अशरण, अशुचि आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का सूक्ष्म विवेचन करते हुए इन्हें कर्मक्षय व परिणामशुद्धि का माध्यम बताया गया है। अनगारभावनाधिकार में अनगार का स्वरूप, चिन्ह, व्रत, भिक्षा, विहार आदि से सम्बंधित शुद्धियों का पालन करने का निर्देश है। समयसाराधिकार में शास्त्र के सार का प्रतिपादन करते हुए चारित्र को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। जीवों की रक्षा के लिए यतना को श्रेष्ठ कहा गया है। यथा —

**जदं चरे जदं चिट्टे जदमासे जदं सये ।**

**जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एयं पावं ण बज्झई ॥ ( गा. 1015 )**

अर्थात् — यतनापूर्वक आचरण करे, यतनापूर्वक बैठे, यतनापूर्वक सोये, यतनापूर्वक भोजन करे, यतनापूर्वक बोले, इस प्रकार पापकर्म नहीं बंधता है। शीलगुणाधिकार में शील के 18,000 भेदों का कथन किया गया है। पर्याप्तिअधिकार में जीव की छः पर्याप्तियों को बताकर संसारी जीव के अनेक भेद—प्रभेदों का कथन किया गया है।

## कत्तिगेयाणुवेक्खा

कार्तिकेयानुप्रेक्षा के रचयिता, स्वामी कार्तिकेय हैं। इनके समय को लेकर विद्वान एक मत नहीं हैं। डॉ. ए.एन. उपाध्ये ने इनका समय छठी शताब्दी माना है। इस ग्रन्थ में 489 गाथाएँ हैं, जिनमें चंचल मन एवं विषय-वासनाओं के विरोध के लिए क्रमशः अधुव, अशरण, संसार, एकत्व अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारह अनुप्रेक्षाओं का विस्तार से निरूपण हुआ है। प्रसंगवश इसमें जीव, अजीव आदि सात तत्त्व, द्वादशव्रत, दान, संलेखना, दशधर्म, सम्यक्त्व के आठ अंग, बारह प्रकार के तप, ध्यान के भेद-प्रभेद आदि का भी विवेचन हुआ है। इस ग्रन्थ की गाथाओं की अभिव्यंजना बड़ी सशक्त है। एक-एक गाथा गूढ़ से गूढ़ तथ्यों को समाहित किये हुए है। आचार्य कुन्दकुन्दकृत बारसअणुवेक्खा और इस ग्रन्थ में विषय और भाषा-शैली की दृष्टि से बहुत समानता देखी जा सकती है।

## आचार्य नेमिचन्द्र की रचनाएँ

आचार्य नेमिचन्द्र जैन सिद्धान्त साहित्य के बहुश्रुत एवं अद्वितीय विद्वान थे। इन्हें **सिद्धान्तचक्रवर्ती** की उपाधि प्राप्त थी। ये कर्नाटक के गंगवंशीय राजा राघमल्ल के सेनापति चामुण्डराय के समकालीन थे। इनका समय लगभग 11वीं शताब्दी माना गया है। इन्होंने अनेक प्राकृत ग्रन्थों का प्रणयन कर जैन सिद्धान्त साहित्य की विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत की है। इनकी निम्न रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—

1. गोम्मटसार
2. त्रिलोकसार
3. क्षपणसार
4. लब्धिसार
5. द्रव्यसंग्रह

गोम्मटसार दो भागों में है — जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड। इस ग्रन्थ के माध्यम से आचार्य ने षट्खण्डांगम के विषय को सरलता से समझाने का प्रयत्न किया है। त्रिलोकसार करणानुयोग का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें तीनों लोकों की रचना से सम्बन्धित सभी तथ्यों का निरूपण हुआ है। जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, मानुष क्षेत्र, भवनवासियों के लिए रहने के स्थान, आयु, परिवार आदि का विस्तार से विवेचन हुआ है। खगोल विज्ञान की

दृष्टि से ग्रह, नक्षत्र, तारा, सूर्य, चन्द्र आदि की आयु, विमान, गति, परिवार आदि से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सामग्री भी इसमें विवेचित है। लब्धिसार में आत्मा की शुद्धि के लिए आवश्यक पाँच लब्धियों – क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण को प्राप्त करने की विधि का विस्तार से वर्णन हुआ है। क्षपणसार में कर्मों से विमुख होने की विधि का वर्णन है। द्रव्यसंग्रह जैन सिद्धान्त शास्त्र का 58 गाथाओं का संक्षिप्त ग्रन्थ है। इसमें जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश व काल इन छः द्रव्यों का निरूपण किया गया है। सात तत्त्वों, ध्यान व मोक्ष-मार्ग का भी इसमें विवेचन हुआ है। यथा ध्यान का स्वरूप बताते हुए कहा गया है—

**मा चिद्गुह मा जंपह मा चिन्तह किंवि जेण होइ थिरो ।**

**अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्ञाणं ॥ ( गा. 53 )**

अर्थात् – कुछ मत करो, कुछ मत बोलो, कुछ मत सोचो। जिससे आत्मा, आत्मा में स्थिर हो, यही परम ध्यान है।

इन उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त शौरसेनी प्राकृत में दिगम्बर परम्परा में अन्य सैद्धान्तिक ग्रन्थ भी लिखे गये हैं।

### सहायक ग्रन्थ

1. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा – ले. देवेन्द्रमुनि शास्त्री, तारकगुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर
2. जैनागम दिग्दर्शन – ले. नगराज मुनि, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
3. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग 4) – ले. डॉ. मोहनलाल मेहता एवं प्रो. हीरालाल र. कापड़िया, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
4. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा (खण्ड 2) – ले. डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री, ज्योतिषाचार्य, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, सागर (मध्यप्रदेश)

5. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—ले. डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी
6. प्राकृत साहित्य का इतिहास — ले. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
7. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान — ले. डॉ. हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद, भोपाल
8. जिनवाणी (जैनागम साहित्य—विशेषांक 2002 अंक 1, 2, 3, 4) — सं. डॉ. धर्मचन्द्र जैन, सम्यग्ज्ञान, प्रचारक मण्डल, जयपुर



## प्राकृत के प्रमुख शिलालेख

प्राकृत भाषा एवं साहित्य के अध्ययन के लिए शिलालेखी साहित्य की जानकारी महत्त्वपूर्ण है। लिखित रूप में प्राकृत भाषा का सर्वाधिक प्राचीन साहित्य शिलालेखी साहित्य के रूप में ही उपलब्ध है। यह साहित्य कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। जितना भी शिलालेखी साहित्य आज उपलब्ध है, उसमें प्राकृत के शिलालेख सर्वाधिक प्राचीन हैं। प्राकृत के शिलालेखों की महत्ता इस बात से भी बढ़ जाती है कि यह साहित्य किसी व्यक्ति विशेष, राजा, महात्मा या योद्धा के यशोगान या स्तुति से सम्बन्धित नहीं है, अपितु इन शिलालेखों द्वारा मानवता के प्रकाश में जीवन मूल्यों की सुन्दर प्रतिष्ठा की गई है। प्राकृत भाषा में उत्कीर्ण ये शिलालेख सामाजिक प्रगति, धार्मिक सहिष्णुता एवं शान्ति का ही संदेश देते हैं। प्राकृत साहित्य एवं प्राकृत भाषा के प्राचीनतम रूप के अध्ययन की दृष्टि से भी यह साहित्य प्रामाणिक है, क्योंकि शिलालेखों पर उत्कीर्ण होने के कारण इस साहित्य में किसी प्रकार के परिवर्तन व संशोधन की संभावना नहीं होती है। यह समय के शाश्वत प्रवाह में यथावत स्थिर है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह हमारी अमूल्य धरोहर है। शिलालेखी साहित्य में अशोक के शिलालेख प्राचीनतम हैं। उसके पश्चात् ईसा पूर्व पहली शताब्दी में लिखा गया खारवेल का हाथीगुम्फा लेख, उदयगिरि, खण्डगिरि के लेख, आन्ध्र राजाओं के प्राकृत शिलालेख, नासिक में उत्कीर्ण वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का शिलालेख आदि भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ईसा की चौथी शताब्दी तक के अनेक प्राकृत शिलालेख प्राप्त होते हैं। इनमें से कुछ एक पंक्ति के हैं तथा कुछ विस्तृत हैं। प्राकृत के प्रमुख शिलालेखों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

### अशोक के शिलालेख

शिलालेखी साहित्य में सबसे प्राचीन एवं ऐतिहासिक शिलालेख सम्राट अशोक के हैं। ई.पू. 269 में राज्याभिषेक के 12 वर्ष पश्चात् सम्राट

अशोक ने गिरनार, कालसी, धौली, जौगढ़ एवं मनसेहरा आदि स्थानों पर अनेक लेख उत्कीर्ण कराए हैं। सम्राट अशोक के कुछ लेख शिलालेख हैं, कुछ स्तम्भ लेख और कुछ गुफा लेख हैं। अशोक के मुख्य शिलालेखों की संख्या चौदह हैं। अशोक के इन चतुर्दश शिलालेखों का एक समूह सौराष्ट्र में जूनागढ़ (गिरनार का मध्यकालीन नाम) से लगभग एक मील की दूरी पर गिरनार की पहाड़ियों पर स्थित है। यह अभिलेख जिस शिला पर उत्कीर्ण है, वह शिला त्रिभुजाकार ग्रेनाइट पत्थर की है, जिसका क्षेत्रफल लगभग 100 वर्गफुट है। शिलाखण्ड के उत्तरपूर्वीय मुख पर अशोक के चतुर्दश शिलालेख दो स्तम्भों में विभाजित होकर उत्कीर्ण हैं। दोनों स्तम्भों के बीच में एक रेखा भी खिंची हुई है। बायीं ओर के स्तम्भ में प्रथम पाँच अभिलेख और दायीं ओर के स्तम्भ में छठवें से लेकर बारहवाँ तक उत्कीर्ण हैं। त्रयोदश व चतुर्दश अभिलेख पंचम तथा द्वादश के नीचे खुदे हुए हैं। अशोक के अभिलेखों की भाषा मागधी प्राकृत है, जो पालि के अधिक निकट है। कहीं कहीं संस्कृत के रूपों का भी समावेश है। लिपि की दृष्टि से ब्राह्मी व खरोष्ठी दोनों का ही प्रयोग हुआ है। शाहबाजगढ़ी और मनसेहरा के शिलालेख खरोष्ठी लिपि में हैं तथा शेष लेख ब्राह्मी में हैं।

अशोक के ये शिलालेख भारतीय साहित्य में कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। इनसे न केवल अशोक के व्यक्तिगत जीवन का परिचय मिलता है, अपितु तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि स्थितियों की जानकारी भी प्राप्त होती है।

## व्यक्तिगत महत्त्व

अशोक के शिलालेखों से उसके व्यक्तिगत जीवन के बारे में पता चलता है कि वे बहुत से भाई-बहिन थे। उसकी कम से कम दो रानियाँ थी, क्योंकि प्रयाग स्तम्भ लेख में राजकुमार तीवर की माता कारुवाकी को द्वितीय रानी कहा है। उसके एक पुत्र महेन्द्र व पुत्री संघमित्रा थी। इन अभिलेखों से यह भी स्पष्ट होता है कि कलिंग को जीतने के बाद लाखों लोगों की हिंसा को देखकर अशोक को अत्यधिक अनुताप हुआ और उसके बाद वह पूर्णतः बौद्ध धर्म की ओर प्रवृत्त हुआ।

पहले सम्राट अशोक मांस भक्षी था, किन्तु बाद में उसने जीव हिंसा का निषेध किया था।

## राजनैतिक एवं प्रशासनिक महत्त्व

अशोक के अभिलेखों से उसके साम्राज्य के विस्तार का ज्ञान होता है। अशोक का साम्राज्य पश्चिम में अफगानिस्तान से पूर्व में बंगाल तक तथा उत्तर में हिमालय की तराई से दक्षिण में मद्रास प्रान्त के येरुगुडी (करनूल जिला) तक व्याप्त था, क्योंकि प्राप्त शिलालेखों का सीमा क्षेत्र उपर्युक्त ही है। अशोक के द्वितीय तथा तेरहवें शिलालेख में राजाओं की जो सूची प्राप्त है, उससे भी इसकी पुष्टि होती है।

अशोक के शिलालेखों से मौर्यकालीन प्रशासन व्यवस्था का ज्ञान होता है। प्रशासन व न्याय व्यवस्था के क्षेत्र में अशोक ने अनेक नये-नये प्रयोग किये। इन प्रयोगों व उनसे सम्बन्धित पदाधिकारियों यथा - महामात्रों, ब्रजभूमिकों, अन्तमहामात्रों आदि का विस्तृत उल्लेख इन अभिलेखों में मिलता है। पाँचवें शिलालेख में धर्ममहामात्य नामक नये कर्मचारी की नियुक्ति का वर्णन है। तीसरे शिलालेख में रज्जुक, प्रादेशिक तथा युक्त नामक पदाधिकारियों को प्रजाहित के लिए राज्य में परिभ्रमण करने की आज्ञा दी गई है। चौथे स्तंभ अभिलेख में अशोक ने स्वयं रज्जुक के विभिन्न कार्यों का विवेचन किया है। अशोक के अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, तक्षशिला, उज्जयिनी, तोसली, सुवर्णगिरि नामक प्रान्तों में शासन विभक्त था। एक अभिलेख में आटविक जातियों को सम्बोधित करते हुए अशोक ने अपनी शक्ति का जिस प्रकार उल्लेख किया है, उससे लगता है कि वह अपने राज्य में विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों को सहन नहीं करता था। अशोक की प्रशासनिक व्यवस्था इस प्रकार की थी कि किसी भी व्यक्ति को उससे कहीं भी मिलने की अनुमति थी।

## सामाजिक महत्त्व

अशोक ने अपने अभिलेखों द्वारा जातिवाद, हिंसा, श्रमण-ब्राह्मण के प्रति अनुचित व्यवहार का निषेध किया तथा समाज में सदाचार, सुव्यवस्था व निश्छल प्रेम उत्पन्न करने का प्रयास किया। समाज के



नैतिक उत्थान के लिए अहिंसा, सेवा, मैत्री, दान, संयम, अपरिग्रह, कृतज्ञता, भाव-शुद्धि जैसे मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की। तृतीय शिलालेख में बताया गया है कि "माता-पिता की सेवा करना, मित्र, परिचित, जाति, ब्राह्मण और श्रमणों को दान देना अच्छा है, कम खर्च करना व कम संचय करना अच्छा है। उसने इन अभिलेखों के माध्यम से प्रजा में अहिंसा की भावना को जगाया। जीवन में अहिंसा को उतारने के लिए आहार पानी की शुद्धि का निर्देश दिया। प्रथम तथा चतुर्थ शिलालेख में जीव हिंसा का निषेध किया गया है। इसी प्रकार प्राणियों के प्राणों का आदर, विद्यार्थियों द्वारा आचार्य की सेवा एवं जाति भाईयों के साथ उचित व्यवहार का संदेश भी इन अभिलेखों में उत्कीर्ण है।

अशोक के अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि वह प्रजा को अपनी संतान मानता था। प्रजाहित को वह सर्वाधिक महत्त्व देता था। कलिंग अभिलेख में कहा गया है कि "मेरी प्रजा मेरे बच्चों के समान है और मैं चाहता हूँ कि सबको इस लोक तथा परलोक में सुख तथा शान्ति मिले।" छठें शिलालेख में अशोक ने अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहा है — सर्व लोक हित मेरा कर्त्तव्य है, ऐसा मेरा मत है। यथा —

**कतव्यमते हि मे सर्वलोकहितं । नास्ति हि कंमतरं सर्वलोकहितया ।**  
( छठा शिलालेख )

उसने यात्रियों के लिए छायादार पेड़ लगवाये, कुएँ खुदवाए, सरायें बनवाई, रोगी मनुष्य व पशुओं के लिए चिकित्सा का पूरा प्रबंध किया। जहाँ औषधियाँ नहीं थीं, वहाँ लाई गई व रोपी गई। यथा —

**ओसुडानि च यानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च यत यत नास्ति,**  
**सर्वत्रा हारापितानि च रोपापितानि च । ( दूसरा शिलालेख )**

इन सब कार्यों के पीछे उसका यही अभिप्राय था कि लोग धर्म के प्रति आकर्षित हों और धर्म का आचरण करें।

## धार्मिक महत्त्व

अशोक के अभिलेखों का धार्मिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्व है। धर्म को उसने सर्वोत्कृष्ट मंगल कहा है। धर्मदान, धर्मउदारता एवं धर्ममित्रता

को सर्वश्रेष्ठ बताया है। दूसरे शब्दों में धर्म के संदेश के द्वारा भी उसने मानवीय मूल्यों को ही उकेरा है। द्वितीय स्तम्भ अभिलेख में धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा है कि पाप से दूर रहना, बहुत अच्छे कार्य करना तथा दया, दान, सत्य और शौच का पालन करना धर्म है। अशोक के अभिलेखों में प्रतिपादित धर्म का साम्प्रदायिकता से कहीं भी सम्बंध नहीं है। उसके द्वारा निर्दिष्ट सार्वजनिय एवं समन्वयात्मक धर्म मानव मात्र के लिए उपादेय है। दूसरे शब्दों में इसे बहुश्रुत व कल्याणगामी धर्म की संज्ञा दी जा सकती है। अपनी धार्मिक इच्छा व्यक्त करते हुए सातवें शिलालेख में कहा है कि सब मतों के व्यक्ति सब स्थानों पर रह सकें क्योंकि वे सभी आत्म-संयम एवं हृदय की पवित्रता चाहते हैं। इन अभिलेखों के माध्यम से अशोक ने धर्म-निरपेक्षता का जो संदेश दिया है, वह वर्तमान युग में अत्यंत प्रासंगिक है। वह इच्छा करता था कि सभी सम्प्रदाय के लोग उसके राज्य में बसें और समृद्धि को प्राप्त हों। सम्प्रदायों में सारवृद्धि का उल्लेख करते हुए बारहवें शिलालेख में कहा गया है कि इसके लिए वाणी का संयम तो आवश्यक है ही साथ ही लोग अपने सम्प्रदाय का आदर व दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करें।

**सारवढी तु बहुविधा । तस तु इदं मूलं व वचगुती किंति**

**आत्यपासंडपूजा व पर पासंड गरहा व न भवे अप्रकरणग्धि ।**

( बारहवाँ शिलालेख )

अपने धर्म का उसने पड़ोसी राज्यों में भी प्रचार किया। तेरहवें अभिलेख में प्रयुक्त धर्मविजय शब्द धर्म प्रचार का ही अभियान था। अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार धर्म यात्राओं से किया था। राज्याभिषेक के दसवें वर्ष में वह "बोध गया" गया था।

**देवानंपियो पियदसि राजा दसवर्साभिसितो संतो अयाय संबोधिं ।**

( आठवाँ शिलालेख )

**भाषिक एवं साहित्यिक महत्त्व**

अशोक के अभिलेखों की भाषा मागधी प्राकृत है। कहीं कहीं इसमें पालि, पेशाची, शौरसेनी एवं संस्कृत के रूप भी मिलते हैं। इन अभिलेखों

में ई.पू. तीसरी शताब्दी की प्राकृत का स्वरूप सुरक्षित है। साथ ही प्राचीन भारतीय भाषाओं के मानचित्र को समझने की दृष्टि से भी ये अभिलेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। शौरसेनी, अर्धमागधी एवं पालि भाषा के प्राचीन रूप एवं उनके विकास क्रम की जानकारी के लिए ये सर्वोत्तम लिखित प्रमाण हैं। इन अभिलेखों में तत्कालीन भाषा के प्रादेशिक भेद भी प्राप्त होते हैं। केन्द्रीय बोली मागधी के अतिरिक्त उत्तरी, पश्चिमी एवं पूर्वी भाषा के रूप भी इन लेखों में परिलक्षित होते हैं। साहित्यिक दृष्टि से भी ये अभिलेख महत्त्वपूर्ण हैं। अशोक द्वारा देवानां प्रिय प्रियदर्शी की उपाधि धारण की गई थी, जो बाद में ब्राह्मण साहित्य में अत्यंत लोकप्रिय हुई। यथा —

इयं धंमलिपी देवानं प्रियेन प्रियदसिना राया लेखापिता ।

( पहला अभिलेख )

## सम्राट खारवेल का हाथीगुम्फा शिलालेख

चेदि वंश में जैन सम्राट खारवेल जो उस समय उड़ीसा (कलिंग) का चक्रवर्ती सम्राट था। उसका एक शिलालेख उड़ीसा के भुवनेश्वर तीर्थ के पास उदयगिरि पर्वत की गुफा में खुदा हुआ मिलता है। यह हाथीगुम्फा के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कलिंग के राजा खारवेल के जीवन वृत्तांतों तथा उसके शासन काल के प्रथम 13 वर्ष की घटनाओं का वर्णन है। यह शिलालेख ई.पू. 150 के लगभग का है। ब्राह्मी लिपि में लिखे गये इस अभिलेख में 17 पंक्तियाँ हैं, जो करीब 84 वर्ग फुट क्षेत्रफल में लिखी गई हैं। इसकी भाषा प्राचीन शौरसेनी या जैन शौरसेनी से मिलती-जुलती है।

## महत्त्व

हाथीगुम्फा अभिलेख जैन अर्हत्तों की स्तुति से प्रारंभ होता है। लेकिन इसका उद्देश्य लौकिक ही है। यह प्राचीनतम राज प्रशस्ति है, जिसमें खारवेल के शासन काल की घटनाओं को गिनाया गया है। इस दृष्टि से यह समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति से तुलनीय है।

खारवेल का हाथीगुम्फा शिलालेख भारतीय साहित्य एवं इतिहास दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इतिहासकारों का मत है कि

मौर्यकाल की वंश परम्परा तथा कालगणना की दृष्टि से इसका महत्त्व अशोक के शिलालेखों से अधिक है। इसमें वंश तथा वर्ष संख्या का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। तत्कालीन सामाजिक व राज व्यवस्था का सुन्दर चित्रण है। खारवेल के हाथगुम्फा अभिलेख से निम्न महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।

1. इस अभिलेख से सम्राट खारवेल के व्यक्तिगत जीवन का पता चलता है। पन्द्रह वर्ष की आयु में उसे युवराज बनाया गया था तथा 24 वर्ष की आयु में उसका राज्याभिषेक किया गया था।
2. इस शिलालेख से ज्ञात होता है कि खारवेल एक सफल विजेता था। उसने अपने समय की राजनीति को अत्यधिक प्रभावित किया। दक्षिण आन्ध्र वंशी राजा शातकर्णी खारवेल का समकालीन था। शातकर्णी की परवाह न करके खारवेल ने शासन के दूसरे वर्ष में दक्षिण में एक बड़ी भारी सेना भेजी। शासन के चौथे वर्ष में भोजकों, पूर्वी खानदेश और अहमदनगर के रठिकों के विरुद्ध सैनिक अभियान किया। खारवेल ने मगध पर चढ़ाई की और वहाँ के राजा बहसति मित्र को पराजित किया तथा कलिंग जिन-प्रतिमा जिसे नन्द शासक शताब्दियों पहले ले गया था, उसे अपनी राजधानी वापस लाया। सुदूर दक्षिण के पाण्ड्य राजा के यहाँ से खारवेल के पास बहुमूल्य उपहार आते थे। उत्तर से लेकर दक्षिण तक समस्त भारत में उसने विजयपताका फहराई थी।
3. खारवेल एक वर्ष विजय के लिए प्रस्थान करता था तो दूसरे वर्ष महल आदि बनवाता, दान देता तथा प्रजाहित के कार्य करता था। शासन काल के पाँचवें वर्ष में वह तनसुलि से एक नहर के जल को अपनी राजधानी में लाया था। छठें वर्ष में एक लाख मुद्रा व्यय करके उसने अपनी प्रजा पर अनुग्रह किया और ब्राह्मणों को बड़े-बड़े दान दिये। उसने ग्रामीण तथा शहरी जनता के कर माफ किये।
4. खारवेल का यह अभिलेख ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भारत वर्ष का सर्वप्रथम उल्लेख इसी शिलालेख की दसवीं पंक्ति में **भरथवस** के रूप में मिलता है। इस देश का नाम भारतवर्ष है इसका

पाषाणोत्कीर्ण प्रमाण यही शिलालेख है। खारवेल के इस अभिलेख से जैन धर्म की प्राचीनता का ज्ञान होता है। नन्दवंशीय राजा नंद के समय में भी जैन धर्म का प्रचार था। इस शिलालेख की 12वीं पंक्ति में स्पष्ट उल्लेख है कि शताब्दियों पहले नंद जिस कलिंग-स्थित जिन की प्रतिमा को ले गया था, उसे सम्राट खारवेल ने मगध पर चढ़ाई करके वापस प्राप्त किया। जैन पंच नमस्कार मंत्र सर्वप्रथम लिखित रूप में इसी शिलालेख में **नमो अरहंतानं । नमो सवसिधानं** के रूप में प्राप्त होता है।

5. इस अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि सम्राट खारवेल एक जैन धार्मिक नरेश था। उसने जैन साधुओं को संरक्षण प्रदान किया था तथा उनके निर्वाह के लिए पर्याप्त दान दिये। उसने एक बड़ा जैन सम्मेलन उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर बुलाया था, उसमें पण्डित, ऋषि, श्रमण व तपस्वी आदि एकत्रित हुए थे। मौर्यकाल में जो श्रुत विस्मृत हो गया था, उसका उसने पुनरुद्धार कराया। जैन संघ ने खारवेल को खेमराजा, भिक्षुराजा और धर्मराजा की पदवी प्रदान की थी। वह स्वयं जैन था, किन्तु अन्य धर्मों के प्रति उसमें सहिष्णुता थी। उसने सभी देवताओं के मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया था।

6. भाषिक एवं साहित्यिक दृष्टि से इस अभिलेख का अपना महत्त्व है। इस अभिलेख की भाषा प्राचीन शौरसेनी है। इसमें शौरसेनी प्राकृत भाषा की एक निश्चित परम्परा दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि इसमें शौरसेनी की समस्त प्रवृत्तियाँ विद्यमान नहीं हैं तथापि उसके आदि रूपों की झलक इसमें प्राप्त होती है। अशोक के शिलालेखों की अपेक्षा इस शिलालेख में भाषा का प्रवाह अधिक देखने में आता है, जिससे इस काल की प्राकृत की समृद्धता का अनुमान किया जा सकता है। इसके शब्द विन्यास रचयिता की काव्य कुशलता का संकेत देते हैं। शब्द नपे-तुले हैं। संक्षिप्तता में यह सूत्रशैली की याद दिलाता है।

इन प्रमुख शिलालेखों के अतिरिक्त उदयगिरि तथा खण्डगिरि के शिलालेख एवं पश्चिमी भारत के आन्ध्र राजाओं के शिलालेख साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। प्राकृत के विकसित रूप इन शिलालेखों में पाये जाते हैं। नाटकीय प्राकृतों के विभिन्न रूप भी इनकी भाषा में समाविष्ट हैं।

ई. सन् 861 का कक्कुक का घटयाल प्राकृत शिलालेख भी प्राप्त हुआ है, जो जोधपुर से 20 मील उत्तर की ओर घटयाल गाँव में उत्कीर्ण है।

इस प्रकार ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से प्राकृत में शिलालेख लिखे जाते रहे हैं। ये शिलालेख भाषा, साहित्य एवं इतिहास तीनों ही दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इन अभिलेखों से भारत के प्राचीन इतिहास का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही प्राचीन भाषाओं की प्रवृत्तियों को समझने के लिए भी ये शिलालेख अत्यन्त उपयोगी हैं। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की विकसित परम्परा मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के रूप में किस प्रकार प्रवेश कर रही थी, इसकी जानकारी के लिए शिलालेखी साहित्य का अध्ययन आवश्यक है।

### सहायक ग्रन्थ

1. अशोक के अभिलेख — ले. राजबली पाण्डेय, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी
2. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—ले. डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी
3. प्राकृत साहित्य का इतिहास — ले. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
4. प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति — ले. कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव



## प्राकृत के प्रमुख काव्य-ग्रन्थ

विभिन्न जैन आगम-ग्रन्थों में काव्य-तत्त्व प्रचुरता से विद्यमान रहे हैं। उत्तराध्ययन की विभिन्न गाथाओं में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का बहुलता से प्रयोग मिलता है। प्राकृत में लिखे गये कथा-ग्रन्थों एवं चरित-काव्यों में भी काव्य-तत्त्वों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। पउमचरियं, तरंगवई, वसुदेवहिण्डी, कुवलयमाला आदि ग्रन्थों में काव्य-तत्त्वों के विविध पक्षों यथा-छंद, रस, अलंकार, रीति, वस्तु-वर्णन आदि की छटा दर्शनीय है। वस्तुतः प्राकृत भाषा के वर्ण ललित व सुकुमार ही नहीं, मधुर व कोमल भी हैं, अतः काव्य-तत्त्व स्वतः ही इस भाषा में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। धार्मिक-साहित्य, कथा-ग्रन्थ, चरित-साहित्य, नाटक आदि विधाओं के अतिरिक्त प्राकृत भाषा में स्वतन्त्र रूप से रसमयी काव्यों की रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं, जिनमें शृंगार रस की प्रधानता है। प्राकृत रसमयी काव्य-धारा रूढ़िवादिता व कट्टरता से परे मानवता के निकट प्रवाहित हुई है। इनमें छोटे-छोटे मुक्तकों द्वारा विविध जीवन मूल्यों को प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया गया है। मित्रता, स्नेह, प्रेम, शृंगार, विरह, सौन्दर्य आदि मानव जीवन के विविध पक्षों का इनमें यथार्थ व काव्यात्मक चित्रण हुआ है। प्राकृत काव्य की प्रशंसा में वाक्पतिराज की यह उक्ति सत्य ही प्रतीत होती है कि -

**णवमत्थ-दंसणं संनिवेस सिसिराओ बन्ध-रिद्धीओ ।**

**अविरलमिणमो आभुवण-बन्धमिह णवर पययम्मि ॥**

( गउडवहो - 92 )

अर्थात् - सृष्टि के प्रारंभ से लेकर आज तक प्रचुर परिमाण में नूतन अर्थों का दर्शन तथा सुन्दर रचनावली प्रबंध सम्पत्ति यदि कहीं भी है, तो केवल प्राकृत काव्य में ही है।

हाल, प्रवरसेन, जयवल्लभ आदि प्राकृत के प्राचीन काव्यकार हैं। रसमयी प्राकृत काव्यों की शृंखला में अनेक रचनाएँ प्राप्त होती हैं। विद्वानों

द्वारा प्राकृत के रसमयी काव्यों को तीन भागों में विभाजित किया है।  
 (1) मुक्तककाव्य (2) महाकाव्य (3) खण्डकाव्य। यहाँ इनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

## मुक्तककाव्य

जिस काव्य का प्रत्येक पद्य दूसरे पद्य की अपेक्षा के बिना स्वतन्त्र रूप से अर्थ की रसानुभूति कराने में सक्षम होता है, वह काव्य मुक्तक के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। मुक्तककाव्य की रचना भारतीय साहित्य में वैदिक युग से ही देखी जा सकती है। प्राकृत भाषा में मुक्तककाव्य का प्राचीन रूप आगम साहित्य में प्राप्त होता है। आगम साहित्य में कई स्थानों पर उपदेश या नीति का प्रणयन करने हेतु सरस पद्यों का उपयोग हुआ है। प्राकृत के मुक्तक स्तुति, स्तवन या स्तोत्र की धार्मिक पृष्ठभूमि से प्रारंभ हुए हैं। अतः धर्म-तत्त्व की इनमें प्रधानता है, किन्तु आगे चलकर ऐहिकता के समावेश के कारण शृंगार रस की अनुभूति भी इनमें समाविष्ट हो गई। आचार्य हेमचन्द्र के मुक्तक शृंगार, वीर एवं करुण तीनों ही रसों से युक्त हैं। प्राकृत साहित्य में मुक्तक के रूप में कई गाथाएँ विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त होती हैं, किन्तु व्यवस्थित रूप से संकलित हुए मुक्तककाव्य की दो रचनाएँ उपलब्ध हैं। (1) गाहासत्तसई (2) वज्जालगं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

## गाहासत्तसई

गाथासप्तशती मुक्तककाव्य की परम्परा का प्रतिनिधि काव्य है। इसकी गणना शृंगार रस प्रधान प्राकृत के सर्वश्रेष्ठ मुक्तककाव्यों में की जाती है। इस काव्य के संकलन कर्ता महाकवि वत्सल हाल हैं। इनका समय लगभग ई.सन् की प्रथम शताब्दी माना गया है। कवि हाल ने अनेक कवि एवं कवियत्रियों की लगभग 1 करोड़ गाथाओं में से सात सौ सर्वश्रेष्ठ गाथाओं का संकलन कर गाथासप्तशती की रचना की है। इस दृष्टि से यह सत्तसई परम्परा का प्रतिनिधि ग्रन्थ भी है। इसी ग्रन्थ के आधार पर आगे चलकर आर्यासप्तशती, बिहारीसत्तसई आदि की रचना हुई। बाणभट्ट, मम्मट, वाग्भट्ट आदि सभी अलंकारशास्त्रियों ने इस मुक्तककाव्य की प्रशंसा



की है। इसका प्राचीन नाम गाहाकोस है, किन्तु सौ-सौ के समूह में सात सौ गाथाओं का संकलन होने के कारण इसका गाथासप्तशती नाम सार्थक है। मुक्तककाव्य की परम्परा में इस काव्य-ग्रन्थ का विशेष स्थान है। इसकी प्रत्येक गाथा स्वतंत्र रूप से भाव अभिव्यक्ति एवं रसानुभूति कराने में सक्षम है।

वस्तुतः प्राकृत लोकभाषा थी, अतः प्राकृत के इस मुक्तककाव्य में लोकजीवन के विविध चित्रों को ही उकेरा गया है। कवि ने प्रकृति की गोद में निवास करने वाले ग्रामवासियों के उन्मुक्त जीवन, उनकी सरलता, आदर्श-प्रेम व मानवीय संवेदनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। सामान्य नायक-नायिकाओं को लक्ष्य करके उनके विभिन्न मनोभावों को चित्रित करने का प्रयास किया है। श्रृंगारिक भावनाओं तथा प्रेम की पीड़ा की अभिव्यक्ति अत्यंत मार्मिक है। यथा—

**धण्णा ता महिलाओ जा दइयं सिविणए वि पेच्छन्ति ।**

**णिह् व्विअ तेण विणा ण एइ का पेच्छए सिविणम् ॥ ( गा. 4.97 )**

अर्थात् — वे महिलाएँ धन्य हैं, जो प्रिय को स्वप्न में देखती हैं। उसके बिना तो नींद भी नहीं आती। स्वप्न क्या देखेंगे?

गाथासप्तशती में संकलित गाथाएँ किसी एक विषय से सम्बन्धित नहीं हैं, अपितु ग्रामीण जीवन के विविध चित्रों का इसमें सजीव अंकन हुआ है। ग्रामीण जीवन के कवि ने अनूठे चित्र खिंचे हैं। प्रायः अधिकतर गाथाओं के विषय सरल ग्राम जीवन से ही सम्बन्धित हैं। ग्रामीण बाला के उल्लास, खुशी व प्रफुल्लता का यह चित्र दृष्टव्य है —

**अप्पत्तपत्तअं पाविऊण णवरङ्गअं हलिअसोणहा ।**

**उअह तणुई ण माअइ रुन्दासु वि गामरच्छासु ॥ ( गा. 3.41 )**

अर्थात् — देखो! किसान की मुग्धा बहू, दुर्लभ नवीन साड़ी को पाकर असीम उल्लास से युक्त, वह तन्वी गाँव की चौड़ी गलियों में भी नहीं समा रही है।

श्रृंगार व प्रेम के अतिरिक्त इसमें सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निंदा,

सुभाषित, प्रकृति-चित्रण, ग्रामीण-सौन्दर्य, दरिद्रता आदि से सम्बन्धित मुक्तकों का भी संकलन है। तत्कालीन सामाजिक परम्पराओं का भी इनमें चित्रण मिलता है। विषय की दृष्टि से जहाँ इस ग्रन्थ में विविधता है, वहीं काव्यात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से गाथासप्तशती अनुपम कृति है। शृंगाररस का तो यह अक्षय सागर ही है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, व्यंगोक्ति, अन्योक्ति आदि अलंकारों का स्थान-स्थान पर सुन्दर प्रयोग हुआ है। अन्योक्ति अलंकार का यह उदाहरण दृष्टव्य है-

**तुह मुहसारिच्छं ण लहइ त्ति संपुण्णमंडलो विहिणा ।**

**अण्णमअं व्व घडइउं पुणो वि खण्डिज्जइ मिअड्ढो ॥ ( गा. 3.7 )**

अर्थात् - जब सम्पूर्ण चन्द्र भी तुम्हारे मुख की समानता नहीं प्राप्त कर सका, तो विधाता के द्वारा दूसरे नवीन चन्द्रमा का सृजन करने के लिए बार-बार चन्द्रमा को खंडित किया जा रहा है।

### **वज्जालगं**

वज्जालग विभिन्न कवियों द्वारा रचित प्राकृत सुभाषितों का संग्रह ग्रन्थ है। वज्जालग के संकलन कर्त्ता महाकवि जयवल्लभ हैं। इस मुक्तककाव्य का वज्जालग नाम एक विशिष्ट अर्थ का द्योतक है। 'वज्जा' एक देशी शब्द है, जिसका अर्थ है अधिकार या प्रस्ताव तथा 'लग्ग' का अर्थ समूह है। इस दृष्टि से इस मुक्तककाव्य में एक विषय से सम्बन्धित गाथाओं के समूह का संकलन एक 'वज्जा' के अन्तर्गत किया गया है। पूरे काव्य में 995 गाथाएँ संकलित हैं, जो 95 वज्जाओं में विभक्त हैं। कवि जयवल्लभ के अनुसार नाना कवियों द्वारा विरचित श्रेष्ठ गाथाओं का संकलन कर उन्होंने इस काव्य की रचना की है।

विविध सुभाषितों का संकलन करने वाला यह काव्य-ग्रन्थ कई अर्थों में गाथासप्तशती की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। गाथासप्तशती में शृंगार व सौन्दर्य चित्रण से सम्बन्धित गाथाओं का समावेश अधिक है। लेकिन वज्जालग में कवि जयवल्लभ ने व्यक्तिगत हितों से ऊपर उठकर सामाजिक हितों पर अधिक बल दिया है। उन्होंने मानवता के प्रकाश में विविध जीवन मूल्यों को इसमें प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया है। इसमें

श्रृंगार के साथ-साथ सत्प्रेरणा देने वाले परोपकार, मित्रता, साहस, प्रेम, स्नेह, धैर्य, उदारता, कृतज्ञता, विनय, क्षमा जैसे नैतिक मूल्यों से सम्बन्धित मुक्तकों का समावेश कर कवि ने मानव मात्र के कल्याण का पथ-प्रदर्शित किया है।

यथा - उपकार व कृतज्ञता को प्रतिष्ठापित करने वाली यह गाथा दृष्टव्य है-

**बे पुरिसा धरइ धरा अहवा दोहिं पि धारिया धरणी ।**

**उवयारे जस्स मई उवयरिअं जो न पम्हुसइ ॥ ( गा. 45 )**

अर्थात् - यह पृथ्वी दो पुरुषों को ही धारण करती है, अथवा दो पुरुषों द्वारा ही यह पृथ्वी धारण की गई है। (पहला) जिसकी उपकार में मति है, तथा (दूसरा) जो किसी के द्वारा किये गये उपकार को नहीं भूलता है।

वस्तुतः कवि जयवल्लभ ने वज्जालग में इन नैतिक मूल्यों की स्थापना कर अच्छे व बुरे जीवन को बहुत ही सहज व सरल ढंग से प्रस्तुत किया है। यही नहीं स्वस्थ समाज के निर्माण में आर्दश नारी की अहम भूमिका होती है। इस बात का भी कवि को पूर्ण आभास था। नारी के गरिमामय उज्ज्वल चरित्र की कवि ने बड़ी ही मार्मिक प्रस्तुति की है। यथा-

**पत्ते पियपाहुणए मंगलवलयाइ विक्किणन्तीए ।**

**दुग्गयघरिणी कुलबालियाए रोवाविओ गामो ॥ ( गा. 458 )**

अर्थात् - किसी प्रिय अतिथि के आ जाने पर कुल की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए अपने विवाह का मंगल कंकण बेचती हुई गरीब गृहिणी द्वारा सारा गाँव ही रुला दिया गया।

उपर्युक्त गाथा में नारी के आदर्श रूप की प्रस्तुति के साथ द्रिद्रता व विवशता का भी हृदयस्पर्शी चित्र अंकित हुआ है। प्रकृति चित्रण से सम्बन्धित विविध गाथाओं का संकलन भी इस मुक्तककाव्य में हुआ है। छः ऋतुओं का नैसर्गिक चित्रण है। स्पष्ट है कि वज्जालग जीवन के

विविध आयामों का सशक्त प्रस्तुतीकरण करने वाला काव्य है। इसमें आदर्शवादी काव्यों से ऊपर उठकर कवि ने समाज का यथार्थ चित्रण करते हुए विभिन्न मानवीय मूल्यों की स्वाभाविक प्रतिष्ठा की है।

## महाकाव्य

छंदोबद्ध जीवंत कथानक जो जीवन के समस्त पक्षों को उद्घाटित करने वाला हो तथा अलंकृत वर्णनों के कारण रस व प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम हो, उसे महाकाव्य के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। वस्तुतः महाकाव्य में अपने युग के समस्त जीवन का चित्रण किसी विशेष कथानक के माध्यम से किया जाता है। अतः उस युग की सभी मानसिक प्रवृत्तियाँ, लोक संस्कृति, सामाजिक कार्य, व्यापार, आदि सभी कुछ उसमें स्वतः समाविष्ट हो जाते हैं। उपदेश व धर्म-तत्त्व भी कहीं-कहीं बिखरा हुआ मिल जाता है।

प्राकृत में रसात्मक महाकाव्य कम ही प्राप्त होते हैं, किन्तु जो प्राकृत महाकाव्य उपलब्ध हैं, वे अपने अलंकृत वर्णनों तथा व्यापकता के कारण महाकाव्यों के क्षेत्रों में अपना अलग स्थान रखते हैं। उनकी काव्यात्मकता, प्रौढ़ता एवं शैली की मनोहारिता के कारण उन्हें शास्त्रीय महाकाव्यों की संज्ञा प्रदान की गई है। प्राकृत में लिखे गये उत्कृष्ट महाकाव्यों में सेतुबंध, गउडवहो, कुमारपालचरियं (द्वयाश्रय काव्य) एवं लीलावईकहा प्रमुख हैं।

## सेतुबन्धो

सेतुबंध प्राकृत का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है। इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। इस काव्य की भाषा से प्रेरित होकर ही आचार्यों ने महाराष्ट्री प्राकृत को सर्वश्रेष्ठ प्राकृत का दर्जा प्रदान किया है। प्राकृत के इस उत्कृष्ट महाकाव्य के रचयिता महाकवि प्रवरसेन हैं। आशवासों के अन्त में **पवरसेण विरङ्ग** पद प्राप्त होता है। विभिन्न प्रमाणों के आधार पर इस महाकाव्य के रचयिता प्रवरसेन का समय पाँचवीं शताब्दी माना गया है। सेतुबंध में कुल 1291 गाथाएँ हैं, जो 15 आशवासों में विभक्त हैं। वाल्मीकि रामायण के युद्ध कंड की विषयवस्तु के आधार पर कवि ने काव्यात्मक शैली में इस महाकाव्य का प्रणयन किया है। इस महाकाव्य का आधार

मुख्य रूप से दो घटनाएँ हैं — सेतुबंध और रावणवध। अतः इसके दोनों ही नाम प्रचलित हैं, किन्तु सेतु बनाने के प्रसंग को कवि ने जिस उत्साह व विस्तार से वर्णित किया है, उसे देखते हुए इसका सेतुबंध नाम ही अधिक सार्थक लगता है। रावणवध इस काव्य का फल कहा जा सकता है।

महाकाव्य के लक्षणों की दृष्टि से सेतुबंध में एक सफल महाकाव्य के समस्त लक्षण यथा — सर्गबद्धता, वीर, श्रृंगार या शांत रस में से किसी एक रस की प्रधानता, इतिहासाश्रित-कथावस्तु, वर्णन-कौशल, अलंकार-चारुता आदि पूर्णरूप से विद्यमान हैं।

कथात्मक विकास एवं घटना-विन्यास की दृष्टि से सेतुबंध अद्वितीय काव्य है। सेतु निर्माण का लम्बा प्रसंग कथानक के विकास में बाधा उत्पन्न नहीं करता है, अपितु राम व रावण के बीच प्रारंभ होने वाले भयंकर युद्ध के लिए एक मानसिक पृष्ठभूमि तैयार कर देता है। कथोपकथन के माध्यम से कवि ने निराशा, पीड़ा, दीनता, हर्ष आदि अनेक मनोभावों की मार्मिक अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है। सीता की कुशलता का समाचार लेकर आये हनुमान व राम का यह मूक संवाद दृष्टव्य है—

**दिदृ त्ति ण सद्विअं झीण त्ति सबाहमन्थरं णीससिअं ।**

**सोअइ तुमं ति रुण्णं पहुणा जिअइ त्ति मारूई उवऊढो ॥ ( गा.1.38 )**

अर्थात् (सीता को) देखा है, ऐसा कहने पर प्रभु विश्वास नहीं करते हैं, (वह) शोक से क्षीण हो गई है, प्रभु ने वाष्पयुक्त मंथर निश्वास लिया, तुमको याद करती है। (सुनकर) प्रभु रोने लगे। वह जीवित है, (यह सुनकर) प्रभु ने हनुमान को गले लगा लिया।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह महाकाव्य महत्त्वपूर्ण है। मंगलाचरण की प्रारम्भिक गाथाओं में अवतारवाद का पूर्ण विकास परिलक्षित होता है। यक्ष व नाग संस्कृति का भी इसमें वर्णन हुआ है। मैत्री-निर्वाह, कर्तव्य-पालन आदि सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना कर कवि ने व्यक्ति के नैतिक जीवन को भी उठाने का प्रयास किया है। काव्यात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से भी यह सर्वश्रेष्ठ काव्य है। श्लेष, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास आदि अलंकारों की स्थान-स्थान पर नैसर्गिक उपस्थापना हुई है। प्रकृति चित्रण

में कवि पूर्ण सिद्धहस्त हैं। विशेषकर शरद ऋतु के वर्णन में उनकी प्रखर प्रतिभा सामने आई है। जड़ व चेतन दोनों पर ही शारदीय सुषमा के प्रभाव का कवि ने बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। यथा —

तो हरिवड़जसवन्धो राहवजीअस्स पढमहत्थालम्बो ।

सीताबाहविहाओ दहमुहवञ्जदिअहो उवगओ सरओ ॥ ( गा. 1.16 )

अर्थात् — सुग्रीव के यश-मार्ग, राघव के जीवन के प्रथम हस्तालम्ब, सीता के आंसुओं के विघातक और रावण के वध दिवस के रूप में शरद उपस्थित हुआ।

## गउडवहो

गौडवध प्राकृत का ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसके रचयिता महाकवि वाक्पतिराज हैं। ई. सन् 760 के लगभग कवि वाक्पतिराज ने इस महाकाव्य की रचना की है। वाक्पतिराज कन्नौज के राजा यशोवर्मन के आश्रय में रहते थे। अपने आश्रयदाता के प्रशंसार्थ ही उन्होंने इस काव्य की रचना की है। इस काव्य की कथावस्तु में यशोवर्मन द्वारा गौड (मगध) देश के किसी राजा के वध किये जाने की घटना का वर्णन है। इसलिए इसका गउडवहो नाम सार्थक है।

काव्य का प्रारंभ लम्बे मंगलाचरण से हुआ है, जिसमें 61 गाथाओं में विभिन्न देवी-देवताओं को नमस्कार किया गया है। मंगलाचरण के पश्चात् कवि ने प्राकृत काव्यों व कवियों के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। मूल कथानक का आरंभ करीब 92वीं गाथा के बाद होता है। कथानक के प्रारम्भ में कवि ने अपने आश्रयदाता यशोवर्मन की बहुत प्रशंसा की है। उसे पौराणिक राजा पृथु से महान बताते हुए विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित किया है। इसके पश्चात् यशोवर्मन की वीरता व विजय यात्रा का वर्णन क्रम है, जिसमें वह सर्वप्रथम गौड (मगध) देश के राजा का वध करता है। इसके पश्चात् बंगराज, कोंकण, मरुदेश, महेन्द्र पर्वत के निवासी आदि पर विजय प्राप्ति का वर्णन हुआ है। अंत में इस विजय यात्रा के बाद यशोवर्मन कन्नौज लौट जाता है। नायक के उत्तरार्ध जीवन का वर्णन इस काव्य में नहीं है। यह एक सरस काव्य है। जीवन के मधुर व कठोर दोनों ही पक्ष

समान रूप से चित्रित किए गए हैं। एक ओर विजय यात्रा के प्रसंग में आए अनेक तालाब, नदी, पर्वत आदि के काव्यात्मक चित्रण हैं, तो दूसरी ओर शत्रु पक्ष की विधवाओं के मार्मिक विलाप का जीवंत वर्णन भी प्रस्तुत हुआ है। ऋतु, वन, पर्वत, सरोवर, संध्या आदि के अलंकृत वर्णनों तथा प्रकृति-चित्रण की सजीवता के कारण ही यह उत्कृष्ट महाकाव्य कहलाता है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, व्यंगोक्ति, दृष्टान्त आदि अलंकारों का आद्योपांत चारु विन्यास है। राजघराने के आतंक को व्यंगोक्ति के माध्यम से स्पष्ट करने वाला यह पद दृष्टव्य है—

**पत्थिवघरेसु गुणिणोवि णाम जइ को वि सावयासव्व ।**

**जणसामण्णं तं ताण किं पि अण्णं चिय निमित्तं ॥ ( गा. 876 )**

अर्थात् — यदि कोई गुणी व्यक्ति राजमहलों में पहुँच जाता है, तो इसका कारण यही हो सकता है कि जन साधारण की वहाँ तक पहुँच है अथवा अन्य कोई कारण होगा, उसके गुण तो इसमें कदापि कारण नहीं हो सकते हैं।

### **कुमारवालचरियं**

कुमारवालचरियं को द्वयाश्रयकाव्य भी कहा गया है। द्वयाश्रयकाव्य के रचयिता 12 वीं शताब्दी के वैयाकरण आचार्य हेमचन्द्र हैं। इस काव्य में आचार्य ने राजा कुमारपाल के चरित वर्णन के माध्यम से प्राकृत व्याकरण के नियमों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। द्वयाश्रयकाव्य होने के कारण इसमें व्याकरण के नियमों के साथ-साथ काव्य-तत्त्व भी प्रचुरता से विद्यमान हैं। यह महाकाव्य दो विभागों में है। प्रथम विभाग के 20 सर्गों में सिद्धहेमशब्दानुशासन के प्रारम्भिक सात अध्यायों में वर्णित संस्कृत व्याकरण के नियमों को समझाया गया है। दूसरे विभाग में आठ सर्ग हैं, जिनमें आठवें अध्याय में वर्णित प्राकृत व्याकरण के नियमों को समझाया गया है। दूसरे विभाग के प्रथम छः सर्गों में महाराष्ट्री प्राकृत के नियम समझाये गये हैं तथा शेष दो सर्गों में शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका-पैशाची और अपभ्रंश भाषा के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इस महाकाव्य की कथावस्तु अत्यंत लघु है। राजा कुमारपाल के एक दिन की घटनाओं को विभिन्न अलंकृत वर्णनों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। नायक के समग्र जीवन का

वर्णन तथा अवान्तर कथाओं के अभाव के कारण कथानक में रोचकता नहीं है। कथावस्तु अत्यन्त शिथिल है। उसमें जीवन का उतार-चढ़ाव वर्णित नहीं है। बीच-बीच में व्याकरण के उदाहरणों को समाविष्ट कर देने के कारण काव्य में कृत्रिमता आ गई है। किन्तु सजीव वस्तु-वर्णन, प्राकृतिक दृश्यों के मनोरम चित्रण एवं अलंकारों के उत्कृष्ट विन्यास के कारण यह उच्चकोटि का काव्य माना गया है। अणहिल नगर के वर्णन में कवि की यह मौलिक उपमा दृष्टव्य है -

**जस्सि सकलकं वि हु रयणी-रमणं कुणंति अकलकं ।**

**संखधर-संख-भंगोज्जलाओ भवणंसु-भंगीओ ॥ ( गा.1.16 )**

अर्थात् - जिस नगर में शंख, प्रवाल, मोती, रत्न आदि से ज्योतिर्मय भवनों की उज्ज्वल किरणें कलंकित चन्द्रमा को भी निष्कलंक बना देती है।

## लीलावई

प्राकृत साहित्य में लीलावतीकथा की गणना कथाग्रन्थ एवं शास्त्रीय महाकाव्य दोनों ही विधाओं में की गई है। इसके रचयिता 9वीं शताब्दी के महाकवि कोरुहल हैं। दिव्यमानुषी कथा के रूप में प्रसिद्ध इस ग्रन्थ में प्रतिष्ठान नगर के राजा सातवाहन एवं सिंहलद्वीप की राजकुमारी लीलावती की प्रणय कथा वर्णित है। मूल कथानक के साथ अनेक अवान्तर कथाएँ भी गुंफित हुई हैं। यह महाकाव्य किसी धार्मिक या आध्यात्मिक तथ्यों का प्रणयन करने की दृष्टि से नहीं लिखा गया है, लेकिन सामाजिक सन्दर्भों में इस नियम को दृढ़ करता है कि संयत प्रेमी-प्रेमिका यदि अपने प्रेम में दृढ़ हैं तथा विभिन्न प्रेम-परीक्षाओं में खरे उतरते हैं, तो समाज भी उन्हें विवाह-बंधन की अनुमति प्रदान कर देता है। काव्य-तत्त्वों की दृष्टि से यह महाकाव्य अत्यंत समृद्ध है। राजाओं के जीवन-चरित के वर्णन काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत हुए हैं। प्राकृतिक दृश्यों के कलात्मक वर्णन, सरस संवाद व अलंकारों का पांडित्यपूर्ण प्रयोग के कारण ही यह कथाग्रन्थ महाकाव्य की कोटि में गिना जाता है।

इन प्रमुख महाकाव्यों के अतिरिक्त प्राकृत में कृष्णलीलाशुक कवि



(13वीं शती) ने **सिरिचिंधकव्वं** नामक महाकाव्य की रचना की, जिसमें वररुचि एवं त्रिविक्रम के प्राकृत व्याकरण के उदाहरणों का प्रयोग किया है। मलावार के श्रीकण्ठकवि (18वीं शती) ने **सोरिचरित** की रचना की। इस काव्य में श्रीकृष्ण के चरित का वर्णन है। स्पष्ट है प्राकृत में महाकाव्य की एक सशक्त परम्परा है। चौथी शताब्दी से ही प्राकृत महाकाव्य लिखे जाते रहे हैं। यह परम्परा 18वीं शताब्दी तक चलती रही।

## खण्डकाव्य

महाकाव्य के एक देश का अनुसरण करने वाला काव्य खंडकाव्य कहलाता है। महाकाव्य में जीवन के समग्र पक्षों का एक साथ प्रस्तुतीकरण किया जाता है, किन्तु खंडकाव्य में जीवन के किसी एक मार्मिक पक्ष की ही काव्यात्मक अभिव्यंजना की जाती है। किसी एक पक्ष की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित होने के कारण खंडकाव्यों में कथावस्तु का विकास धीरे-धीरे होता है। प्राकृत कवियों द्वारा खंडकाव्य कम ही लिखे गये हैं। प्राकृत के प्रमुख खंडकाव्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

## कंसवधो

कंसवध के रचयिता रामपाणिवाद मलावर प्रदेश के निवासी थे। इनका समय ई.सन् 1707-75 तक माना गया है। प्रस्तुत खंडकाव्य में 4 सर्ग एवं 233 पद्य हैं। इस काव्य की कथावस्तु का आधार श्रीमद् भागवत है। अक्रूरजी गोकुल आकर श्रीकृष्ण व बलराम को कंस के छल के बारे में बताते हैं कि धनुष यज्ञ के बहाने कंस ने उन्हें मारने का षड्यन्त्र रचा है। श्रीकृष्ण निमंत्रण स्वीकार कर बलराम सहित अक्रूर के साथ मथुरा जाते हैं। वहाँ धनुषशाला में जाकर धनुष को तोड़ देते हैं। आगे कुवल्यापीड हाथी व अम्बष्ट को पछाड़ने, चाणूर व मुष्टिक मल्ल को मल्लयुद्ध में हराने की घटना वर्णित हुई है। अन्त में क्रुद्ध कंस स्वयं तलवार लेकर उनके सामने उपस्थित होता है। श्रीकृष्ण तत्क्षण ही कंस का वध कर देते हैं। समस्त कथानक इसी घटना के इर्द-गिर्द घूमता है। इस संक्षिप्त कथानक को लेकर कवि ने इस खंडकाव्य की रचना की है। श्री कृष्ण द्वारा कंस का वध करने का प्रसंग इस काव्य की केन्द्रीय घटना है। अतः इसी घटना के

आधार पर काव्य का नाम कंसवहो रखा गया है। यह एक सरस काव्य है, जिसमें लोकतत्त्व, वीरता व प्रेमतत्त्व का निरूपण एक साथ हुआ है। इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है, कहीं-कहीं शौरसेनी का भी प्रयोग हुआ है। मथुरानगरी, प्रभात, कंस वध, गोपियों का विलाप, बलराम का अन्तर्द्वन्द्व, कृष्ण की बाल लीला आदि के वर्णन काव्यात्मक हैं। बलराम के अन्तर्द्वन्द्व का यह मनोवैज्ञानिक चित्रण दृष्टव्य है—

पवट्टए चावमहं ति कोदुअं णिवट्टए वंचण-साहणं ति तं ।

दुहा वले भादर भाव-बंधणं मह त्ति तं जंपइ रोहिणी-सुओ ॥

( गा. 27 )

अर्थात् - रोहिणी पुत्र (बलराम) कहते हैं, हे भाई! मुझे दो प्रकार का भाव उत्पन्न हो रहा है। एक ओर धनुष यज्ञ देखने का कौतूहल उत्पन्न हो रहा है, तो दूसरी ओर वह धनुष यज्ञ कपट का साधन है। इस कारण मन निवृत्त हो रहा है।

### उषाणिरुद्धो

उषाणिरुद्ध प्राकृत का सरस खंडकाव्य है। इस काव्य की कथा चार सर्ग में विभाजित है। इसकी कथा का आधार श्रीमद् भागवत है। इस खंडकाव्य के रचयिता भी रामपाणिवाद हैं। यह कंसवध के पहले की रचना है। यह एक सरस प्रेमकाव्य है, जिसमें बाणासुर की कन्या उषा तथा श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के प्रणय व विवाह की घटना का काव्यात्मक वर्णन हुआ है। बाण की कन्या उषा कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध से प्रेम करती है। बाण को जब यह मालूम होता है तो वह अनिरुद्ध को जेल में डाल देता है। श्रीकृष्ण अपने पौत्र को छुड़ाने के लिए बाण से युद्ध करते हैं। पराजित होकर बाण अपनी कन्या का विवाह अनिरुद्ध से कर देते हैं। अन्तिम सर्ग में उषा एवं अनिरुद्ध को देखने आने वाली नारियों की विचित्र मनोदशा का काव्यात्मक वर्णन हुआ है। प्रणयकथा की प्रधानता होने के कारण शृंगार रस इस काव्य का प्रमुख रस है। नायक-नायिका दोनों के ही चरित्र-चित्रण में प्रणय-तत्त्व को प्रमुखता दी गई है। शृंगार रस के साथ-साथ युद्ध आदि प्रसंग में वीर रस की भी सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। काव्य-तत्त्वों की दृष्टि से यह समृद्ध रचना है। घटनाओं का विन्यास क्रम सुनियोजित है।

उत्प्रेक्षा, रूपक, काव्यलिंग, अलंकारों का सुन्दर नियोजन हुआ है। इस खण्डकाव्य पर कर्पूरमंजरी तथा अन्य संस्कृत काव्यों का प्रभाव परिलक्षित होता है।

## कूर्मापुत्रचरियं

कूर्मापुत्रचरित की गणना प्राकृत के चरितकाव्य तथा खण्डकाव्य दोनों में ही की जाती है। कवि अनंतहंस ने लगभग 16वीं शताब्दी में इस ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें 198 गाथाएँ हैं, जिनमें राजा महेन्द्रसिंह और उनकी रानी कूर्मा के पुत्र धर्मदेव के जीवन की कथा वर्णित है। कथा के प्रारम्भ में कूर्मापुत्र के पूर्वजन्म का वृत्तांत वर्णित है। मूल कथानक के साथ अनेक अवान्तर कथाएँ भी गुम्फित हुई हैं। अवान्तर कथाएँ सरस व रोचक हैं। इन छोटी-छोटी कथाओं के माध्यम से तप, दान, दया, शील, भावशुद्धि आदि शुष्क उपदेशों को सरस बनाकर प्रस्तुत किया गया। दान, तप, शील व भाव के भेदों से धर्म को चार प्रकार का बताया है। भाव को सर्वश्रेष्ठ तथा मोक्ष प्रदान करने वाला कहा है। यथा —

दाणतवसीलभावणभेएहि चउव्विहो हवइ धम्मो ।

सव्वेसु तेसु भावो महप्पभावो मुणोयव्वो ॥ ( गा. 5 )

इन प्रमुख खंडकाव्यों के अतिरिक्त प्राकृत में मेघदूत के अनुकरण पर लिखा गया **भृङ्गसंदेश** भी प्राप्त होता है, जिसमें एक विरही व्यक्ति भृङ्ग के माध्यम से अपनी प्रिया के पास संदेश भेजता है। इसके कवि अज्ञात हैं।

## सहायक ग्रन्थ

1. गाथा सप्तशती — अ. डॉ. हरिराम आचार्य, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
2. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग 6) — ले. डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

3. प्राकृत भारती – सं. एवं अ. डॉ. प्रेमसुमन जैन, डॉ. सुभाष कोठारी, आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
4. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-ले. डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी
5. प्राकृत साहित्य का इतिहास – ले. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
6. वज्जालग्न में जीवन-मूल्य – सं. एवं अ. डॉ. कमलचन्द्र सोगाणी, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
7. वज्जालग्न- र. जयवल्लभ, सं. प्रो. माधव वासुदेव पटवर्धन, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद।



## प्राकृत के प्रमुख कथा-ग्रन्थ

### कथा परम्परा

मानव जीवन के मनोरंजन एवं ज्ञानवर्धन के लिए कथा-साहित्य सर्वोत्तम साधन है। साहित्य में कथानक की विधा अत्यन्त पुरातन है। सम्भवतः मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ ही यह विधा भी विकसित होती चली गई। कथा-साहित्य का प्राचीनतम रूप लोक कथाओं में प्राप्त होता है। इन लोक कथाओं में कौतूहल एवं जिज्ञासा का भाव इस प्रकार विद्यमान होता है कि श्रोता चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, बाल हो या वृद्ध, वह इन्हें सुनता चला जाता है। प्राकृत कथाओं की सामग्री भी प्रायः जन-जीवन पर आधारित है, अतः इनमें लोकतत्त्व प्रचुर परिमाण में उपस्थित हैं। जहाँ कहीं भी विद्वानों को लोक कथा दिखाई दी, उन्होंने उसे अपनाकर साहित्यिक रूप प्रदान कर दिया और इसी शैली ने प्राकृत कथा-साहित्य के विकास को एक नई दिशा प्रदान की। गुणादय की बृहत्कथा लोक कथाओं का संग्रह ग्रन्थ माना गया है। प्राकृत कथा-साहित्य के विकास की एक लम्बी परम्परा रही है। इसके विकास के बीज आगमकाल में ही अंकुरित होने लगे, जो आगे चलकर स्वतंत्र कथा-ग्रन्थों के रूप में पुष्पित एवं पल्लवित हुए। इस दृष्टि से प्राकृत कथा साहित्य की विकास यात्रा को दो चरणों में बांट सकते हैं - (1) आगम-ग्रन्थों की कथाएँ (2) स्वतन्त्र कथा-ग्रन्थ।

### आगम-ग्रन्थों की कथाएँ

प्राकृत कथा-साहित्य का उद्गमस्थल प्राकृत आगम साहित्य माना जा सकता है। प्राकृत आगम साहित्य में धार्मिक आचार, आध्यात्मिक तत्त्व-चिन्तन तथा नीति एवं कर्तव्य का प्रणयन कथाओं के माध्यम से ही किया गया है। दर्शन की गूढ़ से गूढ़ समस्याओं को सुलझाने तथा अपने विचारों व अनुभूतियों को सरलतम रूप से जन-साधारण तक पहुँचाने के

लिए तीर्थकरों, गणधरों एवं अन्य आचार्यों द्वारा कथाओं का ही अवलम्बन लिया गया है। तप, संयम, त्याग जैसे शुष्क व दुरुह विषयों के विवेचन के लिए विभिन्न दृष्टान्त, रूपक, संवाद या कथानक शैली का उपयोग किया गया है। **ज्ञाताधर्मकथा** इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इस आगम-ग्रन्थ में विभिन्न रूपकों व दृष्टान्तों द्वारा जैन तत्त्व-विद्या को जन-मानस तक पहुँचाने का प्रयास किया गया है। मेघकुमार की कथा जहाँ ऐतिहासिकता को लिए हुए है, वहीं रोहिणीज्ञात कथा में लोककथा के सभी तत्त्व विद्यमान हैं। रूपक शैली में वर्णित कुम्भे, तुम्बी, मयूरी के अंडे आदि कथाओं के माध्यम से धार्मिक उपदेशों का प्रणयन किया गया है। **सूत्रकृतांग** के द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्याय में आया हुआ पुण्डरीक का दृष्टान्त कथा-साहित्य के विकास का अद्वितीय नमूना है। **व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र** में राजकुमार महाबल, स्कन्दकमुनि, जमालि, गोशालक आदि के चरित्र कथानक शैली में ही वर्णित हैं। **उपासकदशांग** में वर्णित आनन्द, कामदेव आदि दस श्रावकों की दिव्य जीवन गाथाएँ चरित्रवाद के विकास के साथ-साथ पारिवारिक जीवन की महत्ता को भी अंकित करती हैं। **अन्तकृदशासूत्र** में वर्णित गजसुकुमाल एवं अतिमुक्तक कुमार की कथा कौतूहल आदि लोक तत्त्वों को समाविष्ट किये हुए है। **विपाकसूत्र** में अच्छे व बुरे कर्मों का फल दिखाने के लिए 20 कथाएँ आई हैं। इनमें क्रमबद्धता के साथ-साथ घटनाओं का उतार-चढ़ाव भी वर्णित है। कथोपकथन की दृष्टि से ये कथाएँ अत्यंत समृद्ध हैं। उपांग साहित्य में **औपपातिक**, **राजप्रश्रीय** आदि उपांग में भी कहीं-कहीं लोक कथाओं के बीज मिलते हैं। **उत्तराध्ययनसूत्र** में नमिप्रव्रज्या, हरिकेशी, मृगापुत्र, रथनेमि, केशी-गौतम, अनाथी मुनि आदि के आख्यानों द्वारा संयम, तप, त्याग व वैराग्य जैसे आध्यात्मिक मूल्यों का बड़े ही सुन्दर व मार्मिक ढंग से प्रतिपादन किया गया है। आगम-ग्रन्थों की ये कथाएँ कथा-साहित्य के विकास को ही दर्शाती हैं।

आगम साहित्य में उपलब्ध कथाएँ वर्णनों के कारण कहीं कहीं बोझिल प्रतीत होती हैं, किन्तु आगमों पर लिखे गये व्याख्या साहित्य में कथा-साहित्य और भी पुष्पित व पल्लवित हुआ। निर्युक्तियों व चूर्णियों में ऐतिहासिक, धार्मिक, लौकिक आदि कई प्रकार की कथाएँ उपलब्ध हैं। **सूत्रकृतांगचूर्णि** में आर्द्रककुमार, अर्थलोभी वणिक आदि के सुन्दर कथानक

हैं। **व्यवहारभाष्य** व **बृहत्कल्पभाष्य** में प्राकृत की उपदेशप्रद व नीतिकथाएँ बहुलता से प्राप्त होती हैं। व्यवहारभाष्य में आई 'भिखारी का सपना' नामक कथा वर्तमान समय में शेखचिल्ली के किस्से के रूप में सर्वत्र लोकप्रिय है।

आगम टीका साहित्य तो कथाओं का भंडार ही है। आचार्य नेमिचन्द्रसूरि द्वारा रचित उत्तराध्ययन की **सुखबोधा टीका** में लगभग एक सौ पच्चीस कथाएँ वर्णित हैं। ये कथाएँ न केवल उपदेशात्मक हैं, अपितु मनोरंजक एवं चमत्कारी भी हैं। **आवश्यकचूर्णि** में वर्णित कथाएँ उपदेशों के साथ-साथ लोक जीवन की अभिव्यक्ति भी करती हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत कथा साहित्य का आविर्भाव आगम युग से प्रारंभ हो गया था, जो उत्तरोत्तर विकसित होता रहा। आगम साहित्य की धार्मिक, लौकिक, एवं नैतिक कथाओं के आधार पर उत्तरकाल में प्राकृत में स्वतन्त्र कथा-ग्रन्थों की रचना की जाने लगी।

## स्वतन्त्र कथा-ग्रन्थ

प्राकृत कथा-साहित्य के विकास की यह लम्बी यात्रा आगम साहित्य से प्रारंभ होकर सत्रहवीं शताब्दी तक चली। स्वतन्त्र प्राकृत कथा-ग्रन्थों के लेखन का आरंभ ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी से हो गया और 16वीं-17वीं शताब्दी तक चलता रहा। 9वीं-10वीं शताब्दी के पूर्व के जैन आचार्यों के लिखे हुए प्राकृत कथा-ग्रन्थों की संख्या कम ही मिलती है, किन्तु 11वीं-12वीं शताब्दी में विद्वानों ने सैकड़ों नवीन कथा-ग्रन्थों का सृजन कर इस विधा को स्वर्णिम काल तक पहुँचा दिया। इस काल में कथाकोषप्रकरण, आख्यानमणिकोष, कहारयणकोष आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कथा-ग्रन्थों की रचना हुई। प्राकृत के प्रमुख कथा-ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

## तरंगवईकहा

पादलिप्तसूरि पहले जैनाचार्य थे, जिन्होंने तरंगवती नामक प्रथम स्वतंत्र प्राकृत कथा-ग्रन्थ की रचना कर प्राकृत कथा-साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की। पादलिप्तसूरि का समय विद्वानों ने दूसरी-तीसरी

शताब्दी के मध्य माना है। दुर्भाग्य से उनकी यह कृति आज अनुपलब्ध है। कुवलयमाला, विशेषावश्यकभाष्य, निशीथचूर्णि आदि ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। इसका संक्षिप्त रूप तरंगलोला के रूप में प्राप्य है।

## तरंगलोला

तरंगवती कथा का संक्षिप्त सार तरंगलोला के रूप में आचार्य नेमिचन्द्रगणि ने लगभग एक हजार वर्ष बाद प्रस्तुत किया। इसमें 1642 गाथाओं में तरंगवती के आदर्श प्रेम व त्याग की कथा वर्णित है। समस्त कथा उत्तम-पुरुष में वर्णित है। तरंगवती का राजगृह में आर्यिका के रूप में आगमन होता है। वहाँ आत्मकथा के रूप में वह अपनी कथा कहती है। हंस-मिथुन को देखकर प्रेम जागृत होने पर वह प्रिय की तलाश में संलग्न होती है तथा इष्ट प्राप्ति पर विवाह करती है। अन्त में तरंगवती के वैराग्य व दीक्षा का वर्णन है। यह कथा शृंगार रस से प्रारंभ होकर करुण रस में ओत-प्रोत होती हुई, अंत में शांत रस की ओर मुड़ जाती है। आचार्य ने नायिका के वासनात्मक प्रेम का उदात्तीकरण करते हुए आत्मशोधन की प्रक्रिया द्वारा राग को विराग में परिवर्तित किया है। नायिका तरंगवती जैसी प्रेमिका भी मुनिराज के दर्शन से प्रेरित होकर भोग-विलासों से मुक्त होकर सुव्रता साध्वी बन जाती है। शृंगार, करुणा व शांत रस से ओत-प्रोत यह कथा-ग्रन्थ पात्रों के आन्तरिक व बाह्य अन्तर्द्वन्द्वों का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करता है। शील-निरूपण की दृष्टि से नायक व नायिका दोनों का चरित्र विकसित है। वस्तुतः यह एक धार्मिक उपन्यास है।

## वसुदेवहिण्डी

वसुदेवहिण्डी का विश्व कथा-ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें अनेक ज्ञानवर्धक एवं मनोरंजक आख्यानों, कथानकों, चरितों एवं अर्ध-ऐतिहासिक वृत्तों का संकलन है। यह ग्रन्थ अति प्राचीन है। इसका रचना काल अनुमानतः चौथी शताब्दी है। प्रस्तुत ग्रन्थ में कृष्ण के पिता वसुदेव के भ्रमण-वृत्तांत का वर्णन किया गया है। प्रसंगवश अनेक अवान्तर कथाएँ भी इसमें आई हैं। इस ग्रन्थ में रामचरित, कौरव व पाण्डवों के कथानक आदि को भी संक्षिप्त रूप में गुम्फित किया गया है। अनेक



लौकिक कथाएँ भी वर्णित हैं। यही कारण है कि यह ग्रन्थ कथा, चरित व पुराण तीनों ही विधाओं के तत्त्वों को अपने में समायोजित किये हुए है। सौ लम्बक वाले इस ग्रन्थ के कथानकों की सरसता में पाठक स्वाभाविक रूप से डूब जाता है। इस ग्रन्थ के दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड के रचयिता संघदासगणि हैं, जिन्होंने 29 लम्बकों की रचना की। द्वितीय खण्ड के रचयिता धर्मदासगणि हैं, जिन्होंने शेष 71 लम्बकों की रचना कर ग्रन्थ को विस्तार दिया। ये 71 लम्बक उन्होंने 18वें लम्बक की कथा प्रियंगुसुंदरी के साथ ही जोड़ दिये हैं। यह भाग वसुदेवहिण्डी का मध्यम खण्ड कहलाता है। इस ग्रन्थ के छः विभाग हैं — कथोत्पत्ति, पीठिका, मुख, प्रतिमुख, शरीर और उपसंहार। कथोत्पत्ति प्रकरण के अन्तर्गत 50 पृष्ठों का धम्मिलहिण्डी नाम का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण आया है, जिसमें धम्मिल सार्थवाह पुत्र की कथा का विस्तार से वर्णन हुआ है। यह प्राकृत कथा—साहित्य के विकास की दृष्टि से आधारभूत ग्रन्थ है। इसी ग्रन्थ के आधार पर आगे चलकर अनेक स्वतन्त्र कथा—ग्रन्थ लिखे गये। जम्बुचरियं, अगडदत्तचरियं, समराइच्चकहा आदि का मूल स्रोत यही कथा—ग्रन्थ है। तत्कालीन समाज व संस्कृति के विभिन्न पहलू भी इसमें उजागर हुए हैं। इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। जगह—जगह सुभाषितों का प्रयोग हुआ है। यथा —

सव्वं गीयं विलवियं, सव्वं नट्टं विडंबियं ।

सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥

( मुख्याधिकार पृ० 105 )

अर्थात् — सभी गीत विलाप हैं, सभी नृत्य विडम्बनाएँ हैं, सभी आभूषण भार हैं, सभी कामभोग दुःखप्रद हैं।

### समराइच्चकहा

समरादित्यकथा को प्राकृत कथा साहित्य में वही स्थान प्राप्त है, जो कि संस्कृत साहित्य में बाणभट्ट की कादम्बरी को प्राप्त है। इसके रचयिता आचार्य हरिभद्र हैं, जिन्होंने अनेक प्राकृत ग्रन्थों की रचना की है। आचार्य हरिभद्र का समय 8वीं शताब्दी माना गया है। समराइच्चकहा का मूलाधार प्रतिशोध की भावना है। इस कथा—ग्रन्थ में राजकुमार समरादित्य

व उसके प्रतिद्वंद्वी गिरिसेन के नौ भवों की कथा वर्णित है। कथा का मूल आधार राजकुमार गुणसेन व अग्निशर्मा के जीवन की वह घटना है, जहाँ कुरूप अग्निशर्मा राजकुमार गुणसेन की बाल-सुलभ क्रीड़ाओं से अपमानित व दुःखी होकर कठोर तपस्वी बन जाता है। युवा होने पर राजा गुणसेन महातपस्वी अग्निशर्मा की तपस्या से अभिभूत होकर उन्हें तीन बार मासक्षमण के पारणे के लिए राजमहल में आमन्त्रित करता है, किन्तु परिस्थितियों वश तपस्वी का पारणा नहीं हो पाता है। तब क्रोधित अग्निशर्मा तीव्र घृणा एवं प्रतिशोध की भावना के साथ अगले प्रत्येक भव में राजा गुणसेन से बदला लेने का निदान बांध कर मृत्यु को प्राप्त होता है। यहीं से सदाचारी नायक गुणसेन व दुराचारी प्रतिनायक अग्निशर्मा के जीवन-संघर्ष की कथा आरम्भ होती है और नौ भवों तक अनवरत चलती है। प्रत्येक भव में अग्निशर्मा का जीव किसी ना किसी रूप में गुणसेन से बदला लेता है। अंत में शुभ-परिणति द्वारा नवें भव में गुणसेन का जीव मोक्ष में जाता है तथा अग्निशर्मा का जीव अशुभ-परिणति के कारण घोर नरक में।

वस्तुतः समराइच्चकहा में प्रतिशोध की भावना विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुई है, जिसे दर्शन की भाषा में शल्य या निदान कहा गया है। इस कथा के माध्यम से यह संदेश दिया गया है कि प्रतिशोध की भावना से बांधा गया निदान का एक छोटा सा बीज किस प्रकार एक विशाल वट-वृक्ष का रूप लेकर अनेक जन्मों तक चलता हुआ मनुष्य के घोर पतन का कारण बन जाता है। निदान के साथ-साथ यह कथा कर्मसिद्धान्त की भी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत करती है। यथा -

**सव्वं पुव्वकयाणं कम्माणं पावए फलविवागं ।**

**अवराहेसु गुणेषु य निमित्तमेत्तं परो होई ॥ ( प्रथम भव )**

अर्थात् - सभी व्यक्ति पूर्व में किये गये कर्मों के फल रूपी परिणाम को प्राप्त करते हैं। अपराधों अथवा गुणों में दूसरा व्यक्ति तो निमित्त मात्र होता है।

यद्यपि इस कथा-ग्रन्थ में गुणसेन व अग्निशर्मा के नौ भवों की कथा वर्णित है, किन्तु प्रत्येक भव की कथा स्वतंत्र अस्तित्व लिए हुए है। मूल कथा के साथ अनेक अवान्तर कथाएँ भी शामिल हैं। धर्म-दर्शन प्रधान यह ग्रन्थ सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। तत्कालीन समाज व संस्कृति के कई महत्त्वपूर्ण पहलू इसमें उजागर हुए हैं। तत्कालीन विभिन्न जातियों, पारिवारिक गठन, उत्सव, विवाह-प्रथा, दास-प्रथा, शिक्षा-पद्धति, भोजन, वस्त्राभूषण, व्यापारी और सार्थवाहों के व्यापारिक नियम, नगर-ग्राम की स्थिति आदि के विविध रूप इसमें वर्णित हैं।

## धुत्तकखाण

आचार्य हरिभद्र की धूर्ताख्यान लाक्षणिक शैली में लिखी गई व्यंग व उपहास प्रधान रचना है। इस कथा-ग्रन्थ में आचार्य ने पाँच धूर्तों के काल्पनिक व असंभव आख्यानों के माध्यम से अविश्वसनीय तथा असंभव बातों की मनोरंजक प्रस्तुति करते हुए उनके निराकरण का सशक्त प्रयास किया है। वस्तुतः सरस शैली में व्यंग व सुझावों के माध्यम से असम्भव व मनगढ़न्त बातों, अन्धविश्वासों, अमानवीय तत्त्वों, जातिवाद आदि को त्यागने का संदेश दिया है। पाँच धूर्तों के आख्यानों में अंत में स्त्री खंडपाना की विजय दिखाकर नारी के अन्नपूर्णा रूप के साथ-साथ बौद्धिक रूप को भी दर्शाया है। प्राचीन भारत में गिरे हुए नारी-समाज को उठाने का यह सुन्दर प्रयास है।

## कुवलयमालाकहा

आचार्य हरिभद्रसूरि के शिष्य दाक्षिणात्य उद्योतनसूरि ने ई. सन् 779 में जालोर में कुवलयमालाकहा की रचना की है। यह कथा-ग्रन्थ गद्य-पद्य दोनों में लिखा गया है। अपनी इसी विशिष्ट शैली के कारण कई प्राकृत विद्वान इसे कथा-ग्रन्थ की श्रेणी में न रखकर 'प्राकृत चंपूकाव्य' की श्रेणी में रखते हैं, लेकिन स्वयं ग्रन्थकार उद्योतनसूरि ने इसे कथा-ग्रन्थ ही माना है। कुवलयमाला में मुख्य रूप से कुमार कुवलयचन्द्र व राजकुमारी कुवलयमाला की प्रणय कथा वर्णित है। इस कथा-ग्रन्थ में कवि ने अनेक नवीन उद्भावनाएँ कर अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। विषय

व कथा—विस्तार की दृष्टि से कदली के स्तंभ की तरह मूल कथानक के साथ अनेक अवान्तर कथाएँ गुम्फित हुई हैं। मूल कथानक के पात्रों के पूर्वभवों के कथानक को समाहित करते हुए क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह इन पाँचों अमूर्त पात्रों को मूर्त पात्रों का रूप देकर उनकी कथावस्तु को मूल कथानक के साथ प्रस्तुत किया है। प्राकृत साहित्य में इस प्रकार की प्रतिकात्मक शैली का प्रयोग करने वाले उद्योतनसूरि प्रथम आचार्य थे। सम्पूर्ण कथानक में पूर्वजन्म व कर्मफल की सम्बंध शृंखला को विवेचित करते हुए अंत में आत्मशोधन द्वारा मुक्ति प्राप्ति का मार्ग दिखाया गया है। वस्तुतः कुवलयमालाकहा द्वारा असद्वृत्तियों पर सद्वृत्तियों की विजय का संदेश देकर आचार्य ने व्यक्ति के नैतिक आचरण को उठाने का प्रयास किया है। चंडसोम, मानभट्ट, मायादित्य, लोभदेव और मोहदत्त ये पाँचों पात्र अपने-अपने नाम व गुण के अनुसार अपनी पराकाष्ठा को लांघते हुए दुष्कृत्य, पाप आदि में लिप्त रहते हैं, जिनका फल नरक की यातना भोगने के अलावा कुछ नहीं हो सकता है, लेकिन आचार्य ने मानव जीवन के इस अंधकारमय पहलू को प्रकाशित करने के लिए इन पात्रों के अगले चार जन्मों की कथा का निर्माण किया। अपने अगले भवों में ये पात्र, स्व-निरीक्षण, पश्चाताप व आत्मशोधन द्वारा असदमानसिक-वृत्तियों का परिष्कार कर संयम व तप द्वारा उन्हें सद्वृत्तियों में परिवर्तित कर मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होते हैं।

जहाँ अपनी मौलिक कथावस्तु के कारण कुवलयमालाकहा प्राकृत कथा-ग्रन्थों में विशिष्ट स्थान रखती है, वहीं इसकी महत्ता अपनी भाषागत समृद्धि के कारण कहीं अधिक है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पेशाची, आदि सभी भाषाओं के उद्धरण इसमें मिलते हैं। 18 देशी भाषाओं का इसमें उदाहरण सहित प्रयोग हुआ है। काव्यात्मक सौंदर्य की दृष्टि से भी यह कथाग्रन्थ अद्वितीय है। रस, छंद, अलंकार योजना में कवि सिद्धहस्त हैं। तत्कालीन समाज व संस्कृति के महत्त्वपूर्ण पहलू इसमें उजागर हुए हैं। आठवीं शताब्दी के अभिजात्य वर्ग, शासन व्यवस्था, धार्मिक जगत, आर्थिक-जीवन, वाणिज्य-व्यापार, शिक्षा आदि के यथार्थ चित्र इसमें अंकित हैं।

## निव्वाण लीलावईकहा

निर्वाण लीलावती कथा-ग्रन्थ वि.सं. 1082-1095 के मध्य लिखा गया था। इसके कर्ता जिनेश्वरसूरि हैं। मूल ग्रन्थ अनुपलब्ध है। इसका सार रूप संस्कृत में जिनरत्नसूरि का प्राप्य है। इस कथा-ग्रन्थ के माध्यम से यह विवेचित करने का प्रयत्न किया गया है कि क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा, चोरी आदि पापों का फल जन्म-जन्मांतरों तक भोगना पड़ता है।

## कहाकोसपगरणं

वर्द्धमानसूरि के शिष्य आचार्य जिनेश्वरसूरि ने वि. सं. 1108 में कथाकोषप्रकरण की रचना की थी। मूल कथा-ग्रन्थ में केवल 30 गाथाएँ हैं। इन गाथाओं में जिन कथाओं के नाम निर्दिष्ट हैं, उनका विस्तार वृत्ति में किया गया है। वृत्ति में 36 मुख्य कथाएँ व 3-4 अवान्तर कथाएँ वर्णित हैं। इनमें से कुछ कथाएँ पुराने ग्रन्थों में मिलती हैं तथा कुछ ग्रन्थकार द्वारा कल्पित हैं। इस ग्रन्थ की कथाएँ बड़ी ही सरस व सुन्दर हैं। इन कथाओं के माध्यम से कर्म सिद्धान्त की सर्वव्यापकता की सुन्दर प्रतिष्ठा की है। प्रत्येक प्राणी के वर्तमान जन्म की घटनाओं का कारण उसके पूर्वजन्म के कृत्यों को माना है। जन्म-परम्परा एवं प्रत्येक भव के सुख-दुःख में कारण व कार्य के सम्बन्ध को समझाते हुए व्रताचरण के पालन पर बल दिया है। इन कथाओं के माध्यम से जिनपूजा, जिनस्तुति, वैयावृत्य, धर्मउत्साह की प्रेरणा, साधु-दान आदि का फल बड़ी ही सरल व सुन्दर शैली में प्रतिपादित किया गया है। भाषा सरल व बोधगम्य है। कहीं-कहीं अपभ्रंश के पद्य भी हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से यह कथा-ग्रन्थ अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व, धातुवाद, रसवाद और अर्थशास्त्र आदि के विषय में इसमें महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध हैं।

## संवेगरंगशाला

संवेगरंगशाला के रचयिता जिनेश्वरसूरि के शिष्य जिनचन्द्र हैं, जिन्होंने वि.सं. 1125 में संवेग भाव का निरूपण करने हेतु इस ग्रन्थ में

अनेक कथाओं का गुम्फन किया है। शांत रस प्रधान इस कथा-ग्रन्थ में मुख्य रूप से महासेन राजर्षि का कथानक चलता है। वे संसार त्याग कर मुनि दीक्षा ग्रहण करते हैं। इस कथा-ग्रन्थ के माध्यम से आराधना, उपासना आदि को सार्वजनीय बनाने का प्रयत्न किया गया है। दार्शनिक व धार्मिक सिद्धान्तों का इस ग्रन्थ में विशद रूप से विवेचन हुआ है।

### अख्यानमणिकोश

उत्तराध्ययन की सुखबोधा टीका के रचयिता आचार्य नेमिचन्द्रसूरि ने धर्म के विभिन्न अंगों को उपदिष्ट करने हेतु आख्यानमणिकोश में अनेक लघु कथाओं का संकलन किया है। प्राकृत कथाओं का यह कोश ग्रन्थ है। मूल गाथाएँ 52 हैं, जो आर्याछंद में हैं। आम्रदेवसूरि ने इस पर ई. सन् 1134 में टीका लिखी है। मूल व टीका दोनों प्राकृत में हैं। कहीं-कहीं संस्कृत व अपभ्रंश का भी प्रयोग है। टीका ग्रन्थ में 41 अधिकार हैं, जो 146 आख्यानों में विभक्त हैं।

विषय विविधता की दृष्टि से इस कोश की कथाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन आख्यानों में धर्मतत्त्वों के साथ-साथ लोकतत्त्व भी विद्यमान हैं। इन कथाओं के माध्यम से जीवन व जगत से सम्बन्धित सभी तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। धार्मिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक नियमों की अभिव्यंजना विभिन्न कथानकों के माध्यम से की गई है। यथा - शील की महत्ता के लिए सीता, रोहिणी, सुभद्रा, दमयंती के आख्यान वर्णित हैं। सुलसा आख्यान द्वारा श्रद्धा का महत्त्व प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार तप, जिनपूजा, विशुद्ध भावना, कर्मसिद्धान्त आदि के माहात्म्य का विवेचन भी विभिन्न आख्यानों द्वारा किया गया है। कर्म सिद्धान्त की दार्शनिक व्याख्या करने वाली यह गाथा दृष्टव्य है-

जं जेण पावियव्वं सुहं व दुक्खं व कम्मनिम्मवियं ।

तं सो तहेव पावइ कयस्स नासो जओ नत्थि ॥ ( 29.151 )

अर्थात् - जिस व्यक्ति के द्वारा जिस प्रकार के कर्म निर्मित किये गये हैं, वह उसी प्रकार से सुख और दुःख प्राप्त करता है, क्योंकि किये हुए कर्मों का नाश नहीं होता है।

## कहारयणकोसो

कथारत्नकोश प्राकृत कथाओं का संग्रह ग्रन्थ है। नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि के शिष्य देवभद्रसूरि (गुणचन्द्र) ने वि. सं. 1158 में भड़ौच में इस ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ में 2 अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में 33 व दूसरे अधिकार में 17 कथाएँ हैं। सम्यक्त्व, व्रत, संयम आदि शुष्क विषयों को कथाओं के माध्यम से सरस बनाकर प्रस्तुत किया गया है। इस कथा-ग्रन्थ की सभी कथाएँ धार्मिक होते हुए भी रोचक व मनोरंजक हैं। इन कथाओं के माध्यम से एक ओर शारीरिक सुखों की अपेक्षा आध्यात्मिक सुखों को महत्त्व दिया गया है, वहीं दूसरी ओर जातिवाद का खण्डन कर मानवतावाद की प्रतिष्ठा की गई है। जीवन शोधन के लिए व्यक्ति का आदर्शवादी होना आवश्यक है। इस कृति की विभिन्न कथाओं का उद्देश्य यही है कि उपशांत होकर व्यक्ति आदर्श गृहस्थ का जीवन-यापन करे। सुदत्ताख्यान द्वारा गृहकलह के दोषों का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। काव्यात्मक वर्णनों की दृष्टि से भी यह कथा-ग्रन्थ समृद्ध है।

## नम्मयासुन्दरीकहा

महेन्द्रसूरि द्वारा रचित नर्मदासुन्दरीकथा धर्म प्रधान कथा-ग्रन्थ है। इसका रचना काल वि.सं. 1187 है। इसमें महासती नर्मदासुन्दरी के सतीत्व का निरूपण किया गया है। नायिका नर्मदासुन्दरी अनेक कष्टों को सहन कर के भी अपने शीलव्रत की रक्षा करती है। नायिका के शीलव्रत की परीक्षा के अनेक अवसर आते हैं, किन्तु नायिका अपने व्रत पर अटल रहकर अपने शील की रक्षा करती है। धर्मकथा होते हुए भी मनोरंजन व कौतूहल तत्त्व इसमें पूर्ण रूप में समाविष्ट हैं। बीच-बीच में कथा को प्रभावशाली बनाने के लिए सूक्तियों का भी प्रयोग किया है। यथा-

**नेहं विणा विवाहो आजम्म कुणइ परिदाहं ( गा० 39 )**

अर्थात् - प्रेम के बिना विवाह जीवन भर दुःखदाई होता है।

## कुमारवालपडिबोहो

सोमप्रभसूरि ने वि.सं. 1241 में महाराष्ट्री प्राकृत में कुमारपालप्रतिबोध ग्रन्थ की रचना की थी। प्रस्तुत ग्रन्थ में पाँच प्रस्ताव हैं। पाँचवां प्रस्ताव अपभ्रंश में है। इस ग्रन्थ में गुजरात के राजा कुमारपाल का चरित्र वर्णित है। राजा कुमारपाल आचार्य हेमचन्द्र के उपदेशों से प्रभावित होकर जैन धर्म को अंगीकार करते हैं। उनको प्रदान की गई शिक्षाओं के दृष्टांतों के रूप में इस ग्रन्थ में कई कथानक गुम्फित हुए हैं। श्रावक के 12 व्रतों एवं उनके अतिचारों के रहस्यों को अवगत कराने के लिए विभिन्न लघु कथानक आए हैं। तीसरे प्रस्ताव में शीलव्रत का पालन करने वाली शीलवती की कथा उपदेशप्रद एवं मनोरंजक है। द्यूतक्रीड़ा के दोष को दिखलाने के लिए नल की कथा आई है। इन लघु कथाओं के माध्यम से व्यक्ति के नैतिक उत्थान एवं चारित्रिक विकास का प्रबल प्रयास किया गया है। उपदेश तत्त्व एवं धार्मिक वातावरण की प्रधानता होते हुए भी काव्यात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ अद्वितीय है। दमयंती के स्वयंवर प्रसंग की यह गाथा दृष्टव्य है, जहाँ रूपक व अनुप्रास अलंकार का माधुर्य एक साथ प्रस्फुटित हुआ है —

**कलयंठकंठि! कंठे कलिंगवङ्गो जयस्स खिव मालं ।**

**करवालराहुणा जस्स कवलिया वेरि-जस-ससिणो ॥**

( प्रथम प्रस्ताव )

अर्थात् — हे कोयलकंठी! कलिंगपति जय के गले में माला डाल, जिसकी तलवार रूपी राहु के द्वारा वेरी रूपी चन्द्रमा ग्रसित किया गया है।

इन प्रमुख कथा-ग्रन्थों के अतिरिक्त प्राकृत भाषा में अनेक कथा-ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। जिनहर्षसूरि (15वीं शताब्दी) का **रयणसेहरनिवकहा** एक प्रेमकथानक है, जिसके आधार पर जायसी ने पद्मावत की रचना की। 12वीं शताब्दी में आचार्य सुमतिसूरि ने **जिनदत्ताख्यान** की रचना की। वर्धमानसूरि द्वारा सन् 1083 में लिखित **मनोरमाकहा** एक सरस कथा ग्रन्थ है। 12वीं शताब्दी में संघतिलक आचार्य ने **आरामसोहाकहा** की रचना की, जो एक विशुद्ध लौकिक कथा है। आधुनिक समय में भी अनेक कथाग्रन्थों



की रचनाएँ हुई हैं। श्री विजयकस्तूरसूरि ने प्राकृत में **पाइयवित्राणकहा** की रचना कर प्राकृत कथा साहित्य के विकास की यात्रा को जीवंत रखा है। इस ग्रन्थ में लिखी 55 कथाएँ लोकजीवन का प्रतिनिधित्व करती हैं। श्री चंदनमुनि प्राकृत कथा-ग्रंथों के आधुनिक लेखक हैं, उन्होंने **रयणवालकहा** की रचना की है। मुनि विमलकुमार की **पियंकरकहा**, साध्वी कांचनकुमारी जी की **पाइयकहाओ** आदि भी प्राकृत के आधुनिक कथा-ग्रन्थ हैं। ये कथा-ग्रन्थ प्राकृत कथा साहित्य की अनवरत समृद्ध परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

### सहायक ग्रन्थ

1. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग 6) - ले. डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
2. प्राकृत गद्य-सोपान - ले. एवं सं. डॉ. प्रेमसुमन जैन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
3. प्राकृत भारती - सं. एवं अ. डॉ. प्रेमसुमन जैन, डॉ. सुभाष कोठारी, आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
4. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - ले. डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी
5. प्राकृत साहित्य का इतिहास - ले. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी



## प्राकृत के प्रमुख चरितकाव्य

### परम्परा

जैन विद्वानों द्वारा कथा व आख्यानों की भाँति प्राकृत भाषा में चरितकाव्यों की भी रचना की गई है। प्राकृत चरितकाव्यों की परम्परा के आधार पर ही संस्कृत में चरितकाव्य की परम्परा का आविर्भाव हुआ है। प्राकृत के चरितकाव्यों के विकास की भी एक लम्बी परम्परा रही है। प्राकृत कथा साहित्य की तरह प्राकृत चरितकाव्यों का उद्भव प्राकृत आगम साहित्य से माना जा सकता है। समवायांगसूत्र के अनुसार बारहवें अंग दृष्टिवाद के पाँच भेदों में एक भेद अनुयोग है, उसमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान व निर्वाण संबंधी वृत्तांत समाविष्ट हैं। इस दृष्टि से **दृष्टिवाद** प्राकृत चरितकाव्यों का आदि स्रोत माना जा सकता है। **समवायांग** में कुलकरों, तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषों के माता-पिता, उनके पूर्वभव, धर्माचार्य, दीक्षा प्रसंग आदि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। **कल्पसूत्र** में अंकित ऋषभदेव, अरिष्टनेमि, पार्श्व, महावीर आदि महापुरुषों के जीवन वृत्तांत चरितकाव्यों की विकास-यात्रा को एक नई दिशा प्रदान करते हैं। **वसुदेवहिण्डी** में भी तीर्थंकरों के जीवन चरित वर्णित हैं। यतिवृषभकृत **तिलोयपण्णत्ति** के चतुर्थ महाअधिकार में तीर्थंकर आदि महापुरुषों के वृत्तांत अधिक विस्तार से प्राप्त होते हैं। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के **विशेषावश्यकभाष्य** में भी महापुरुषों के चरित संकलित हैं। इस प्रकार आगम साहित्य में चरितकाव्यों का अर्ध-विकसित रूप उपलब्ध है, जिसे विमलसूरि ने **पउमचरियं** की रचना कर पूर्णता प्रदान की है।

प्राकृत चरितकाव्यों की कथावस्तु प्रायः तीर्थंकर, राम, कृष्ण या अन्य महापुरुषों के जीवन तथ्यों को लेकर निबद्ध की गई है। आचार्य मानदेव के शिष्य शीलांकाचार्य ने सन् 868 में **चउपन्नमहापुरिसचरियं** में

चौवन शलाका महापुरुषों का जीवन—चरित लिखा है। स्वतंत्र रूप से भी प्राकृत में अनेक चरितकाव्यों की रचना हुई है। विमलसूरि का पउमचरियं, वर्धमानसूरि का आदिनाथचरियं, सोमप्रभसूरि का सुमतिनाथचरियं आदि अनेक चरितकाव्य प्राकृत में लिखे गये हैं। तीर्थकर आदि महापुरुषों के अतिरिक्त जैन धर्म के श्रेष्ठ उन्नायक महान आचार्यों के चरित भी जैन विद्वानों ने लिखे हैं, जिनमें युगप्रधान जिनदत्तसूरि का **गणधरसार्द्धशतक** प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में अभयदेव, उद्योतनसूरि, वज्रस्वामी, उमास्वाति आदि अनेक आचार्यों के जीवन चरित का निरूपण किया गया है। लोकजीवन से ख्याति प्राप्त महनीय चरित से प्रेरित होकर अपनी कल्पना के आधार पर कल्पित जीवन—चरित की रचना भी जैनाचार्यों द्वारा की गई है। प्राकृत भाषा में लिखे गये चरितकाव्यों में पौराणिकता के साथ—साथ लोक—तत्त्वों का भी प्रचुरता से समावेश हुआ है। वे जीवन के अनेक पक्षों के साथ—साथ प्रधान रूप से धार्मिक जीवन का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। मनोरंजन व काव्यात्मक सरसता का भी उनमें पूर्ण समावेश हुआ है।

## चरितकाव्य का स्वरूप

चरितकाव्य प्रबंध काव्यों का ही एक रूप है, जिसमें पौराणिकता व ऐतिहासिकता के साथ—साथ लोक तत्त्व भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान होते हैं। चरितकाव्य में नायक के चरित में विभिन्न परिस्थितियों का विनियोजन इस प्रकार किया जाता है, जिससे उसका चरित क्रमशः विकसित होता चला जाता है। चरितकाव्य का रचयिता चरित्र के उद्घाटन के लिए किसी भी व्यक्ति के जीवन की आवश्यक घटनाओं को ही चुनता है, परन्तु जीवन की समग्रता का चित्रण करने के लिए वह अपनी कल्पना शक्ति से जीवन के अन्य व्यापारों का भी चित्रण करता है। चरितकाव्य के प्रारूप में कथा एवं काव्य दोनों के ही तत्त्व मिश्रित होते हैं। घटना—विन्यास एवं कौतूहल तत्त्व कथा या आख्यानों से ग्रहण किये जाते हैं तथा रसानुभूति के तत्त्व काव्यों से लिये जाते हैं। इस दृष्टि से घटना—विन्यास एवं काव्यात्मक वर्णन दोनों का समन्वय ही चरितकाव्य की आधारशिला होती है। कथावस्तु के साधारण विवेचन से चरितकाव्य कथा बन जाता है तथा नायक का अस्वाभाविक एवं दैविकरूप उसे पुराण बना देता है। अतः चरित काव्य की

रचना के लिए नायक के चरित का स्वाभाविक एवं द्वन्द्वात्मक विकास आवश्यक होता है। चरितकाव्य का नायक अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का सतत् प्रयास करता है। शैली में गंभीरता, उदारता एवं रुचिरता भी चरितकाव्यों के लिए आवश्यक है। प्राकृत के प्रमुख चरितकाव्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

## प्राकृत के प्रमुख चरितकाव्य

### पउमचरियं

जैन साहित्य में महापुरुषों के जीवन-चरित को नवीन काव्य शैली में प्रस्तुत करने वाले प्रथम विद्वान विमलसूरि थे। उन्होंने वाल्मीकि रामायण की कथा के आधार पर महाराष्ट्री प्राकृत में पउमचरिय की रचना की। प्रशस्ति में इसका रचनाकाल ई. सन् की प्रथम शताब्दी दिया गया है, किन्तु विद्वान विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर इसे तीसरी-चौथी शताब्दी की रचना मानते हैं। विमलसूरि का यह ग्रन्थ प्राकृत का आदि चरितकाव्य ग्रन्थ माना जाता है। प्रस्तुत चरितकाव्य में 118 सर्ग हैं, जिनमें राघव के चरित्र को विस्तार से प्रतिपादित किया गया है। इसी चरितकाव्य की परम्परा में आगे चलकर रविषेण ने पदमचरित की रचना की है। विमलसूरि ने इस चरितकाव्य में वाल्मीकि रामायण की कथा को कुछ संशोधनों के साथ प्रस्तुत कर अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। यथा - इसमें राक्षस व वानर दोनों को ही नृवंशीय कहा है। इसी प्रकार इंद्र, सोम, वरुण इत्यादि को देव न मानकर विभिन्न प्रान्तों के मानव वंशी सामन्तों के रूप में चित्रित किया है। सीता को जनक व उसकी पत्नी विदेहा की औरस पुत्री माना है। रावण के दशानन नाम का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि नौ मणियों के हार में उसके नौ प्रतिबिम्ब दृश्यमान होने के कारण पिता ने उसका नाम दशानन रख दिया। इस प्रकार विमलसूरि ने वाल्मीकि रामायण की अनेक बातों को यथार्थ रूप देकर बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा की है।

चरितकाव्य के प्रधान गुण के अनुसार इस सम्पूर्ण चरितकाव्य में नायक राम का चरित उत्तरोत्तर विकसित हुआ है। राम के चरित में

उदारता, धैर्य, कर्तव्य—पालन, क्षमा, पश्चाताप आदि गुणों का समावेश कर हर परिस्थिति में उनके चरित्र को ऊँचा उठाया है। नायिका सीता के चरित्र में विनम्रता, त्याग, सहिष्णुता, वात्सल्य और पति के प्रति अटूट प्रेम एवं श्रद्धा आदि गुणों का समावेश कर उसे आदर्श नारी के रूप में उपस्थित किया है। प्रतिनायक रावण को भी धार्मिक व व्रती पुरुष के रूप में अंकित किया गया है। वह प्रारम्भ में सीता पर मोहित अवश्य होता है, किन्तु बाद में युद्ध में राम—लक्ष्मण को जीतकर सम्मान सहित सीता को उन्हें लौटाने की बात भी सोचता है। रावण की यह विचारधारा उसके चरित्र को उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित करती है। अन्य पात्रों के चरित्र भी विकसित हैं। यथा — राजा दशरथ पुत्र के वियोग में कायरों की तरह प्राणों का त्याग नहीं करते हैं, अपितु निर्भय वीर की भाँति श्रमण दीक्षा अंगीकार कर आत्मकल्याण के पथ पर अग्रसर होते हैं। कैकेयी के चरित्र में भी मातृ—वत्सलता का गुण उजागर हुआ है। वह वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर ही भरत के लिए राज्य चाहती है। इस प्रकार प्रायः सभी चरित अपनी अपनी स्वाभाविक विशेषताओं के साथ प्रस्तुत हुए हैं। काव्यात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से यह चरितकाव्य अद्वितीय है। समुद्र, वन, पर्वत, नदी, सूर्यास्त, नख—शिख, आदि के वर्णन महाकाव्यों की भाँति सजीव हैं। रस, भाव व अलंकारों की कवि ने स्वाभाविक योजना प्रस्तुत की है। भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। यत्र—तत्र अपभ्रंश का प्रभाव है। भाषा में प्रवाह व सरलता है। भाषा को सजीव बनाने के लिए सूक्तियों का प्रचुर प्रयोग किया गया है। यथा — हनुमान रावण को समझाते हुए कहते हैं—

**पत्ते विणासकालो नासइ बुद्धिं नराण निक्खुत्तं । ( गा. 53.138 )**

अर्थात् — विनाशकाल आने पर मनुष्य की बुद्धि निश्चित रूप से नष्ट हो जाती है।

### **चउपन्नमहापुरुसचरियं**

चौवनमहापुरुषचरित आचार्य शीलांकाचार्य द्वारा रचित विशालकाय ग्रन्थ है। विद्वानों ने विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर इसका रचनाकाल ई. सन् 868 निर्धारित किया है। आचार्य शीलांकाचार्य ने इस चरितकाव्य में 24

तीर्थकरों, 12 चक्रवर्तियों, 9 वासुदेवों, 9 बलदेवों को मिलाकर चौवन शलाका पुरुषों का जीवन-चरित ग्रथित किया है। ऋषभदेव, भरत चक्रवर्ती, शान्तिनाथ, मल्लिनाथ और पार्श्वनाथ के जीवन-चरित का इसमें विस्तार से निरूपण हुआ है। इस चरितकाव्य का उद्देश्य शुभ-अशुभ कर्म परिणामों की विवेचना करना है, अतः मूल चरित-नायकों के पूर्वभवों का विवेचन भी ग्रन्थ में हुआ है। मूलकथानकों के साथ अनेक अवान्तर कथाओं के गुम्फन द्वारा जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों, विकारों, आसक्तियों, निदान आदि का भी विश्लेषण किया गया है। वस्तुतः यह चरितकाव्य सांसारिक नश्वरता के बीच-बीच में जीवन के विराट रूप को प्रस्तुत करता है। दान, दया, करुणा आदि मानवीय मूल्यों का भी इसमें सुन्दर अंकन हुआ है। जीव-दया एवं पक्षियों के प्रति करुणा के फल का संदेश देने वाली यह गाथा दृष्टव्य है-

**पक्खीण सावयाण य विच्छोयं ण करेइ जो पुरिसो ।**

**जीवेसु य कुणइ दयं तस्स अवच्चाइं जीवंति ॥**

( सुमत्तिसामिचरियं गा.81 )

अर्थात् - पक्षियों के बच्चों का जो व्यक्ति वियोग नहीं करता है और जीवों पर दया करता है, उसकी संतति चिरंजीवी होती है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस ग्रन्थ में प्रचुर सामग्री है। युद्ध, विवाह, जन्म, उत्सवों आदि के वर्णन-प्रसंगों में तत्कालीन सामाजिक प्रथाओं और रीति-रिवाजों की झलक दृष्टिगत होती है।

## जंबूचरियं

जंबूचरित प्राकृत का गद्य-पद्य मिश्रित पौराणिक चरितकाव्य है। इसके रचयिता वीरभद्रसूरि के प्रशिष्य गुणपाल मुनि हैं। इसका रचनाकाल अनुमानतः 9वीं शताब्दी माना गया है। इस चरितकाव्य का मूल स्रोत वसुदेवहिण्डी नामक कथाग्रन्थ है। प्रस्तुत चरितकाव्य की कथावस्तु 16 उद्देशों में विभक्त है, जिनमें अंतिम केवली जंबूस्वामी के आदर्श जीवन-चरित्र को समग्रता के साथ वर्णित किया गया है। नायक के चरित को विकसित करने के लिए वर्तमान जीवन के साथ-साथ उनके पूर्वभवों के विभिन्न प्रसंगों को भी मनोरंजक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। जंबूकुमार के

पूर्वभवों के वर्णन में भवदेव के भव का वर्णन अत्यंत रोचक है, जिसमें तपस्वी हो जाने पर भी भवदेव अपनी नव-विवाहिता पत्नी नागिला को स्मरण करता रहता है। इस काव्य का मूल उद्देश्य जीवन की चिरन्तन समस्याओं पर प्रकाश डालना तथा सांसारिक दुःख व संतापों से निवृत्ति प्राप्त करना है। जंबूकुमार द्वारा अपनी नव-विवाहित आठ रानियों को संसार की नश्वरता का परिज्ञान कराने वाली दृष्टान्त कथाएँ सरस एवं शिक्षाप्रद हैं। उनके माध्यम से जैन दर्शन के सिद्धान्तों, आचार-व्यवहार आदि का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। धार्मिक वातावरण से व्याप्त यह ग्रन्थ काव्यात्मक सरसता को भी लिए हुए है। उपदेशों को भी वक्रोक्तियों द्वारा सरस बनाने का पूर्ण प्रयास किया गया है। यथा—

**उवयारसहस्सेहिं वि, वंकं को तरइ उज्जुयं काउं ।**

**सीसेण वि वुब्भंतो, हरेण वंको वि मंयको ॥ ( गा. 15.34 )**

अर्थात् — हजारों उपकार करने के द्वारा भी टेढ़े व्यक्ति को सीधा करने में कौन समर्थ हो सकता है? जैसे शिव द्वारा सिर पर धारण किये जाने पर भी चन्द्रमा टेढ़ा ही रहता है।

## सुरसुन्दरीचरियं

सुरसुन्दरीचरित की रचना जिनेश्वरसूरि के शिष्य धनेश्वरसूरि ने वि. सं. 1095 में की है। यह ग्रन्थ 16 परिच्छेदों में विभक्त है तथा प्रत्येक परिच्छेद में 250 पद्य हैं। प्रेमाख्यान प्रधान इस चरित महाकाव्य में नायिका सुरसुन्दरी का जीवन-चरित विस्तार से वर्णित है। नायिका सुरसुन्दरी के चरित का विकास क्रमशः दिखाया गया है। आरंभ में नायिका का शृंगारिक प्रेम, जीवन के आमोद-प्रमोद तथा अन्त में विरक्ति एवं तपश्चरण का विवेचन हुआ है। नायिका के चरित का विकास दिखाने हेतु मूल कथा के साथ-साथ अनेक प्रासंगिक कथाओं को भी समाहित किया है। लेखक ने धार्मिक भावनाओं के साथ-साथ मानव जीवन की मूलवृत्तियों — प्रेम, काम-वासना, राग-विराग के संघर्ष आदि का भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। धार्मिक व दार्शनिक सिद्धान्तों को विवेचित करने वाला यह ग्रन्थ अपने काव्यात्मक वर्णनों के कारण अत्यंत ही सरस एवं सजीव

है। प्रेम व राग की मार्मिक अभिव्यंजना करने वाली यह गाथा दृष्टव्य है—

**ताव च्चिय परम-सुहं जाव न रागो मणम्मि उच्छरइ ।**

**हंदि! सरागम्मि मणे दुक्ख-सहस्साइं पविसंति ॥ ( गा. 8.80 )**

अर्थात् — जब तक मन में राग का उदय नहीं होता है, तब तक परम सुख है, क्योंकि राग युक्त मन में हजारों दुःख प्रवेश कर जाते हैं।

### **रयणचूडरायचरियं**

रत्नचूडराजचरित में नायक रत्नचूड का सर्वांगीण जीवन चरित वर्णित है। उत्तराध्ययन की सुखबोधा नामक टीका के रचयिता आचार्य नेमिचन्द्रसूरि ने वि.सं. 1129-40 के मध्य इस गद्य-पद्य मिश्रित चरितकाव्य की रचना की थी। मोक्ष पुरुषार्थ को उद्देश्य बनाकर इस ग्रन्थ में राजा रत्नचूड व उनकी पत्नी तिलकसुंदरी के धार्मिक जीवन को अंकित किया गया है। इस ग्रन्थ की कथावस्तु तीन भागों में विभक्त है। (1) रत्नचूड का पूर्वभव (2) जन्म, हाथी को वश में करने के लिए जाना, तिलकसुंदरी के साथ विवाह (3) रत्नचूड का सपरिवार मेरुगमन व देशव्रत ग्रहण करना। वस्तुतः इस चरितकाव्य में नायक रत्नचूड का चरित उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ दिखाया है। पूर्वजन्म की घटनाओं का प्रभाव नायक के वर्तमान जीवन को उदात्त रूप देता है। ग्रन्थ में वर्णित विभिन्न अवान्तर कथाएँ लौकिक व उपदेशात्मक हैं। धनपाल सेठ की कटुभाषिणी भार्या 'ईश्वरी' का दृष्टांत लोककथा का प्रतिनिधित्व करता है। राजश्री, पद्मश्री, राजहंसी, सुरानंदा आदि के पूर्वभवों की घटनाओं के वर्णन द्वारा दान, शील, तप एवं भावधर्म की महत्ता को स्पष्ट किया गया है। काव्यात्मक वर्णनों में नदी, पर्वत, वन, सरोवर, संध्या, युद्ध आदि के वर्णन प्रशंसनीय हैं।

### **सिरिपासनाहचरियं**

श्री पार्श्वनाथचरित के रचयिता कहारयणकोस के कर्ता गुणचन्द्रगणि (गुणचन्द्रसूरि) हैं। वि. सं. 1168 में कवि ने भड़ौच में इस ग्रन्थ की रचना की थी। प्रस्तुत ग्रन्थ में पाँच प्रस्तावों में भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन-चरित वर्णित है। प्रथम दो प्रस्तावों में पार्श्वनाथ के पूर्व भवों की, तथा शेष तीन प्रस्तावों में वर्तमान भव की घटनाओं का निरूपण हुआ है। यह एक श्रेष्ठ



चरित काव्य है, जिसमें भगवान् पार्श्वनाथ के असाधारण पुरुषार्थ का स्वाभाविक विकास उद्घाटित हुआ है। कमठ के जीव द्वारा निरन्तर परीषह किये जाने पर भी वे संयम में दृढ़ रहते हैं तथा उनके मन में किसी भी प्रकार की प्रतिशोध की ज्वाला प्रज्वलित नहीं होती है। नायक के चरित में सहिष्णुता के गुण की बेजोड़ पराकाष्ठा इस चरितकाव्य को पुराणों के नजदीक लाकर खड़ा करती है। प्रसंगवश इस काव्य में तंत्र-मंत्र की विविध साधनाएँ भी वर्णित हैं। रचयिता ने इन साधनाओं का खंडन कर सम्यक् चरित की प्रतिष्ठा करते हुए कहा है कि राग, द्वेष एवं मोह का त्याग करके ही साधक का चरित निर्मल बनता है।

## महावीरचरियं

महावीरचरित गुणचन्द्रगणि की उत्कृष्ट रचना है। इसका रचना काल वि.सं. 1139 है। गद्य-पद्य मिश्रित इस चरितकाव्य में अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के आदर्श जीवन को सरस व काव्यमय शैली में प्रस्तुत किया गया है। इस काव्य-ग्रन्थ में 8 सर्ग हैं। प्रथम चार में नायक के पूर्वभवों का एवं शेष चार में वर्तमान भव का वर्णन है। काव्यकार ने धार्मिक सिद्धान्तों के निरूपण, तत्त्वनिर्णय व दर्शन के गूढ़ रहस्यों को स्पष्ट करने हेतु नायक के जीवन की विभिन्न घटनाओं का विश्लेषण धार्मिक वातावरण में प्रस्तुत किया है। मारीच के भव के कृत्य, वर्धमान की बाल-क्रीड़ाएँ, लेखशाला में प्रदर्शित बुद्धि कौशल, विभिन्न उपसर्ग, गोशालक का आख्यान आदि घटनाओं के वर्णन द्वारा तीर्थंकर महावीर के चरित को अनेक उतार-चढ़ाव के साथ विकसित किया गया है। नायक के पूर्व जन्मों की घटनाओं के समावेश के कारण कथानक में सम्पूर्णता परिलक्षित होती है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि महाव्रतों के आख्यानों का गुम्फन कर नायक के चरित को सरल, उज्ज्वल व निर्मल बनाने का कवि ने पूर्ण प्रयास किया है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस चरितकाव्य में महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है। मंत्र-तंत्र, विद्या-साधक, कापालिकों के क्रियाकाण्ड आदि का भी उल्लेख है। महाराष्ट्री प्राकृत में रचित इस काव्य में यत्र-तत्र संस्कृत व अपभ्रंश के पद्य भी प्राप्त होते हैं।

## महावीरचरियं ( पद्यबद्ध )

उत्तराध्ययन की सुखबोधा टीका के रचयिता नेमिचन्द्रसूरि द्वारा रचित पद्यबद्ध महावीरचरित भी प्राप्य है। इस ग्रन्थ की रचना वि. सं. 1141 में हुई। भगवान् महावीर के वर्तमान व पूर्वभवों की घटनाओं के इसमें रोचक उल्लेख हुए हैं। विभिन्न पात्रों के क्रिया-व्यापारों के माध्यम से मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व की सुन्दर अभिव्यंजना की गई है। भगवान् महावीर अपने श्रावक के भव में परोपकार करके जहाँ जीवनोत्थान की सामग्री का संचय करते हैं वहीं मारीच के भव में अहंकार के कारण शील व सदभावना की उपेक्षा करके अपने संसार को बढ़ाते हैं। अंत में 26वें (महावीर के) भव में तीर्थंकर पद को प्राप्त करते हैं।

## सुपासनाहचरियं

आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य श्री लक्ष्मणगणि ने वि. सं. 1199 में गुजरात के राजा कुमारपाल के राज्याभिषेक के वर्ष में सुपाश्वर्चनाथचरित की रचना की है। इस पद्यबद्ध चरितकाव्य में काव्य के नायक सातवें तीर्थंकर सुपाश्वर्चनाथ का जीवन-चरित वर्णित है। सम्पूर्ण काव्य तीन प्रस्तावों में है। प्रथम प्रस्ताव में नायक के पूर्वभवों का तथा शेष प्रस्तावों में वर्तमान भव की घटनाओं का उल्लेख है। इस चरितकाव्य का मूल संदेश यही है कि अनेक जन्मों में संयम व सदाचार का पालन करने से ही व्यक्ति चरित्र का विकास कर मुक्ति पथ की ओर अग्रसर होता है। मूल कथा के साथ अवान्तर कथाएँ भी धर्मतत्त्व का ही प्रणयन करती हैं। इन कथाओं के माध्यम से श्रावक के 12 व्रतों एवं उनके अतिचारों का विवेचन किया गया है। सम्यक्त्व की महत्ता के लिए 'चम्पकमाला' की रोचक कथा वर्णित है। इस चरितकाव्य में सांस्कृतिक तत्त्व भी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं। जैन धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों के साथ-साथ कापालिक, वेदान्त एवं संन्यासी मत के आचार व सिद्धान्तों का भी इसमें निरूपण हुआ है। भीमकुमार की कथा में नरमुण्ड की माला धारण किये हुए कापालिक का वर्णन सजीव है। इसी प्रसंग में नरमुण्डों से मंडित कालीदेवी का भी भयंकर रूप चित्रित हुआ है। इस चरितकाव्य की भाषा पर अपभ्रंश का पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है।

इन प्रमुख चरितकाव्यों के अतिरिक्त भी प्राकृत में अनेक चरित-ग्रन्थ मिलते हैं। श्री चन्द्रप्रभ महत्तर (ई.सन्. 1070) के द्वारा रचित **सिरिविजयचंद्र केवलीचरियं** में जिन पूजा का महत्व बताया गया है। 12वीं शताब्दी की रचना भद्रेश्वरकृत **कहावलि** में त्रेसठ महापुरुषों का चरित्र वर्णित है। देवेन्द्रसूरि कृत (ई.सन्. 1270) **सुदंसणाचरियं** नारी चरित्र के उदात्त रूप को दर्शाता है। 16वीं शताब्दी में अनंतहंस द्वारा लिखा गया **कुम्भापुतचरियं** तप, संयम, दान, शील व भावशुद्धि की महत्ता का प्रतिपादन करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राकृत चरितकाव्यों की एक लम्बी विकास यात्रा रही है, जो आगम काल से प्रारंभ होकर 16वीं-17वीं शताब्दी तक अनवरत रूप से चलती रही और इस काल में अनेक महापुरुषों के चरित लिखे गये।

### सहायक ग्रन्थ

1. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग 6) - ले. डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
2. प्राकृत भारती - सं. एवं अ. डॉ. प्रेमसुमन जैन, डॉ. सुभाष कोठारी, आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर
3. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-ले. डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी
4. प्राकृत साहित्य का इतिहास - ले. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी



## नाटक-साहित्य में प्राकृत एवं प्राकृत सट्टक

12वीं शताब्दी तक प्राकृत भाषा जनभाषा एवं साहित्यिक भाषा दोनों ही रूपों में प्रचलित रही है। अतः प्राकृत भाषा में कथा, चरित, मुक्तक, महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि विधाओं में लिखा विपुल साहित्य मिलता है। इस विशाल साहित्य के आधार पर यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि प्राकृत भाषा में नाटक-साहित्य की रचना भी अवश्य हुई होगी, क्योंकि नाटक लोकजीवन की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। नाटकों के माध्यम से ही रंगमंच पर लोकसंस्कृति के रहन-सहन, रीति-रिवाज, वेश-भूषा आदि की साक्षात् प्रस्तुति होती है। लेकिन आज कोई भी ऐसा नाटक उपलब्ध नहीं है, जो स्वतंत्र रूप से आद्योपांत प्राकृत भाषा में लिखा हुआ हो। प्राकृत भाषा के उपलब्ध विशाल साहित्य को देखकर यह बात असंभव सी प्रतीत होती है कि प्राकृत में किसी नाटक की रचना नहीं हुई हो। फिर संस्कृत नाटकों में विभिन्न पात्रों द्वारा विविध प्राकृतों का प्रयोग किया जाना इस तर्क को अधिक मजबूत करता है कि कतिपय नाटक साहित्य की रचना सम्पूर्णतया प्राकृत भाषा में अवश्य हुई होगी, किन्तु संस्कृत के प्रभाव के कारण वे नाटक या तो नष्ट हो गये या उनका संस्कृतिकरण हो गया और उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहा। आगे चलकर तो संस्कृत का वर्चस्व इतना बढ़ा कि संस्कृत नाटकों के प्राकृत अंशों को भी संस्कृत छाया द्वारा समझाया जाने लगा।

उक्त विवेचन से यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि आद्योपांत प्राकृत भाषा में लिखा प्राकृत का कोई नाटक आज उपलब्ध नहीं है, अतः नाटक-साहित्य में प्राकृत का स्वरूप जानने के लिए हमें संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त विविध प्राकृतों का अध्ययन करना होगा।

## संस्कृत नाटकों में प्राकृत

प्राकृत भाषा का प्रथम नाटकीय प्रयोग संस्कृत नाटकों में ही प्राप्त होता है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में संस्कृत नाटकों में विभिन्न पात्रों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं का निर्देश करते हुए कहा है कि राजा, राजपत्नी, उच्च वर्ग के पुरुष और महिलाएँ, भिक्षुणी, मंत्री, मंत्रियों की पुत्रियाँ एवं कलाकार संस्कृत में भाषण करते हैं तथा श्रमण, तपस्वी, विदूषक, उन्मत्त, बाल, निम्न वर्ग के स्त्री-पुरुष, अनार्य, अप्सराएँ एवं स्त्री पात्र प्राकृत में। इसी कारण संस्कृत नाटकों का अर्ध भाग संस्कृत में होता है तथा अर्ध भाग प्राकृत में रहता है। यहाँ संस्कृत के कुछ प्रमुख नाटकों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है, जिनमें विभिन्न प्राकृतों का विपुल प्रयोग हुआ है।

### अश्वघोष के नाटक

संस्कृत नाटकों में प्राकृत भाषा का सर्वप्रथम प्रयोग अश्वघोष के नाटकों में प्राप्त होता है। अश्वघोष का समय लगभग ई. सन् की पहली शताब्दी माना गया है। अश्वघोष के शारिपुत्रप्रकरण एवं अन्य दो अधूरे नाटक ताड़पत्रों पर प्राप्त हुए हैं। शारिपुत्रप्रकरण नौ अंकों का प्रकरण है, जिसमें गौतम बुद्ध द्वारा मौद्गलायन और शारिपुत्र को बौद्ध धर्म में दीक्षित किये जाने का वर्णन है। अश्वघोष के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत के अध्ययन के पश्चात् विद्वानों ने यही निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि इन नाटकों में अर्धमागधी, मागधी एवं शौरसेनी के प्राचीनतम् रूप उपलब्ध हैं। इन नाटकों की प्राकृत भाषाएँ अशोक के शिलालेखों की प्राकृतों के अधिक निकट हैं। भाषा व साहित्य दोनों के ही इतिहास की दृष्टि से अश्वघोष के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतों का अस्तित्व अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

### भास के नाटक

अश्वघोष के पश्चात् महाकवि भास ने अनेक संस्कृत नाटकों की रचना की है। भास का समय लगभग तीसरी शताब्दी माना गया है। भास द्वारा रचित विभिन्न नाटकों में चारुदत्त एवं अविमारक महत्त्वपूर्ण हैं। इन

दोनों ही नाटकों में प्राकृत की प्रधानता है। दूसरे शब्दों में यदि इन्हें प्राकृत के नाटक ही कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

चारुदत्त नाटक में बसंतसेना व चारुदत्त की प्रणय कथा वर्णित है। इसी कथावस्तु के आधार पर बाद में शूद्रक ने मृच्छकटिकम् की रचना की। चार अंकों के इस नाटक के द्वितीय अंक में तो संस्कृत का प्रयोग ही नहीं है। चतुर्थ अंक में केवल एक पात्र संस्कृत बोलता है। शेष दो अंकों में भी प्राकृत की प्रधानता है। **स्वप्नवासवदत्ता** सात अंकों का नाटक है। इसके सातों अंकों में प्राकृत का प्रयोग हुआ है। **प्रतिमा** नाटक में भी सात अंक हैं, जिसमें राम वनवास से लेकर रावण वध तक की घटनाओं का वर्णन है। इस नाटक में प्रयुक्त प्राकृत प्राचीन प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त **बालचरित**, **पंचरात्र** आदि नाटकों में भी प्राकृतों का प्रयोग हुआ है। भास के नाटकों में प्रयुक्त विभिन्न प्राकृतों में शौरसेनी का प्रयोग अधिक हुआ है। मागधी के भी भिन्न-भिन्न रूप इसमें परिलक्षित हुए हैं।

### कालिदास के नाटक

महाकवि कालिदास की गणना चौथी शताब्दी के श्रेष्ठतम नाटककारों में की गई है। **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, **मालविकाग्निमित्रम्** एवं **विक्रमोर्वशीयम्** ये तीन इनके प्रसिद्ध नाटक हैं। इन तीनों ही नाटकों में कवि कालिदास ने प्राकृत भाषा का बहुलता से प्रयोग किया है। उनके नाटकों में गद्य के लिए शौरसेनी प्राकृत का तथा पद्य के लिए महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग हुआ है। **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** में दुष्यंत व शकुन्तला की प्रेम कथा वर्णित है। प्रेम व सौन्दर्य की अद्भुत अनुभूति उपस्थित करने वाला यह नाटक तत्कालीन राजनैतिक व सामाजिक जीवन की मर्मस्पर्शी झांकी भी प्रस्तुत करता है। विभिन्न प्राकृत भाषाओं के प्रयोग की दृष्टि से राजा का साला, शौरसेनी में बोलता है। नपुंसक, ज्योतिषी और विक्षिप्त भी शौरसेनी का प्रयोग करते हैं। स्त्री पात्र एवं शिशु महाराष्ट्री का तथा पुलिस कर्मचारी, मछुए, सर्वदमन आदि मागधी का प्रयोग करते हैं। सप्तम अंक में तापसी के कथनों में प्रयुक्त प्राकृत भाषा को देखने से कालिदास की प्राकृत सम्बन्धी योग्यता और समृद्धता दोनों का अनुमान लगाया जा सकता है।

**इमस्स बालअस्स दे वि संवादिणी आकिदी त्ति विम्हाविदम्हि ।  
अपरिइदस्स वि दे अप्पडिलोमो संवुत्तो त्ति अ ॥**

अर्थात् - इस बालक की और आपकी आकृति समान है। ऐसा (देखकर) मैं विस्मित हूँ। अपरिचित आपके लिए (यह) अनुकूल हो गया है।

कालिदास द्वारा प्रयुक्त प्राकृत भाषा बोलचाल की प्राकृतों से भिन्न व्याकरण के नियमों से रूढ़ है। प्राकृत के अनेक मुहावरों व लोकोक्तियों का भी इसमें प्रयोग हुआ है। **मालविकाग्निमित्रम्** की कथावस्तु तो प्राकृत सट्टक परम्परा का ही पूर्ण अनुकरण करती प्रतीत होती है। इसमें राजमहिषी की परिचारिका मालविका और राजा अग्निमित्र की प्रणय कथा वर्णित है। इस नाटक में अधिकांश स्त्री पात्र हैं और उन्होंने प्राकृत भाषा का ही प्रयोग किया है। इन पात्रों द्वारा प्रयुक्त प्राकृत के संवाद सरस व मधुर हैं। कालिदास का **विक्रमोर्वशीयम्** नाटक तो एक प्रकार का प्राकृत सट्टक ही है। इसमें राजा पुरुवर तथा अप्सरा उर्वशी की प्रेमकथा वर्णित है। मेनका, रम्भा, सहजन्धा, चित्रलेखा, उर्वशी आदि अप्सराएँ, यवनी, चेटी, राजमहिषी, तापसी आदि स्त्री पात्र एवं विदूषक प्राकृत ही बोलते हैं। अपभ्रंश के भी कुछ सुंदर पद्य इसमें मिलते हैं। यथा-

**हउँ पड़ँ पुच्छिमि आअक्खहि गअवरु ललिअपहारें णासिअतरुवरु ।  
दूरविणिज्जिअ ससहरुकंती दिट्ठि पिआ पड़ँ सम्मुह जंती ॥ ( 4.22 )**

अर्थात् - सुन्दर प्रहारों से वृक्षों का नाश करने वाले, हे श्रेष्ठ हाथी! मैं तुमसे पूछ रहा हूँ कि, कहो तुम्हारे द्वारा दूर से ही चन्द्रमा की शोभा को हरण करने वाली क्या मेरी प्रिया प्रिय के सम्मुख जाती हुई देखी गई है?

### शूद्रक का मृच्छकटिकम्

महाकवि शूद्रक के मृच्छकटिकम् को प्राचीन संस्कृत नाटकों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। शूद्रक के समय को लेकर विद्वानों में मतभेद है। अनुमानतः इनका समय लगभग पाँचवीं शताब्दी माना गया है। महाकवि

शूद्रक का मृच्छकटिक लोकजीवन का प्रतिनिधि नाटक है। इसमें कवि ने नायक चारुदत्त तथा नायिका बसंतसेना की प्रेमकथा को राजनैतिक घटना से सम्बद्ध कर तत्कालीन सामाजिक व राजनैतिक जीवन को यथार्थ रूप से प्रतिबिम्बित किया है। विविध प्राकृत भाषाओं के सफल प्रयोग की दृष्टि से मृच्छकटिकम् अद्वितीय कृति है। इस नाटक में प्रयुक्त प्राकृतों में विविधता है। कवि ने पात्रानुकूल प्राकृत भाषाओं का बेजोड़ प्रयोग किया है। विभिन्न प्राकृत भाषाओं की जानकारी के लिए मृच्छकटिकम् का अध्ययन अत्यंत उपयोगी है।

सब मिलाकर इस नाटक में 30 पात्र हैं, जिनमें से सूत्रधार, नटी, दासी रदनिका, दासी मदनिका, बसंतसेना, उसकी माता, चेटी, दास कर्णपूरक, चारुदत्त की पत्नी धूता, शोधनक व श्रेष्ठी ये 11 पात्र शौरसेनी में बोलते हैं। वीरक व चन्दनक अवन्तिजा में, विदूषक प्राच्या में, संवाहक, स्थावरक, कुंभीलक, वर्धमानक, भिक्षु तथा रोहसेन मागधी में बोलते हैं। शकार शकारी में, दोनों चाण्डाल चांडाली में, द्यूतकर व माथुर ढक्की में बात करते हैं। नायक चारुदत्त, विट, आर्यक आदि शेष पात्र संस्कृत बोलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाटक में प्रयुक्त प्राकृत भाषाएँ भरत के नाट्यशास्त्र में विवेचित प्राकृत भाषाओं के नियमानुसार प्रयुक्त हुई हैं।

मृच्छकटिकम् के संस्कृत टीकाकार पृथ्वीधर ने मृच्छकटिकम् में प्रयुक्त विभिन्न प्राकृतों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार प्राकृत भाषाएँ सात मानी गई हैं। मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाहीका तथा दाक्षिणात्या। अपभ्रंश भी सात हैं — शकारी, चांडाली, आभीरी, शबरी, द्राविडी, उड्डजा एवं ढक्की। इन भाषाओं में से मृच्छकटिकम् में सात भाषा-विभाषाओं का प्रयोग हुआ है। शौरसेनी, अवन्तिजा, प्राच्या, मागधी, शकारी, चाण्डाली और ढक्की। शकार द्वारा बोली जाने वाली शकारी भाषा का यह उदाहरण दृष्टव्य है—

**श्रवण्णअं देमि पिअं वदेमि पडेमि शीशेण शवेश्टणेण ।**

**तथा वि मं णेच्छशि शुद्धदन्ति किं शेवअं कष्टमआ मणुशशा ॥**

( 8. 31 )

अर्थात् — मैं तुम्हें स्वर्ण देता हूँ, प्रिय बोलता हूँ, पगड़ी सहित सिर



देता हूँ तथापि हे श्वेत दाँतों वाली! तुम मुझ सेवक को नहीं चाहती हो।  
मनुष्य बड़े ही कष्टमय हैं।

## श्रीहर्ष के नाटक

महाकवि श्री हर्ष (ई. सन् 600-648) ने **प्रियदर्शिका** एवं **रत्नावली** नाटिकाओं में तथा **नागानन्द** नाटक में प्राकृत भाषा का पूरा प्रयोग किया है। प्रियदर्शिका एवं रत्नावली नाटिकाओं में स्त्री पात्रों की संख्या अधिक है। अतः इन दोनों ही रचनाओं में संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत का प्रयोग अधिक है। स्त्रियाँ, नौकर, विदूषक आदि पात्र प्राकृत ही बोलते हैं। नागानन्द नाटक में संस्कृत की प्रधानता है, किन्तु इसमें भी विदूषक, चेटी, नायिका, मलयवंती आदि पात्र प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करते हैं। श्रीहर्ष ने अपनी नाट्य रचनाओं में पद्य में महाराष्ट्री के साथ-साथ शौरसेनी का भी प्रयोग किया है। रत्नावली की यह पंक्ति दृष्टव्य है -

**दुल्लहजणअणुराओ लज्जा गुरुई परवसो अप्पा । ( 2.1 )**

अर्थात् - व्यक्ति के लिए प्रेम की सुरक्षा दुर्लभ है। परवश आत्मा गहरी लज्जा है।

## भवभूति के नाटक

ई. सन् की सातवीं शताब्दी में भवभूति ने **महावीर चरित**, **मालतीमाधव** एवं **उत्तररामचरित** नाटकों की रचना की। इन तीनों ही नाटकों में संस्कृत की ही प्रधानता है, किन्तु नियमानुसार उन्होंने इन रचनाओं में शौरसेनी प्राकृत का भी प्रयोग किया है।

उपर्युक्त प्रसिद्ध संस्कृत नाटककारों के अतिरिक्त संस्कृत के अन्य नाटक भी मिलते हैं, जिनमें पात्रानुसार प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है। विशाखदत्त (ई. सन् नौवीं शताब्दी) ने **मुद्राराक्षस** में शौरसेनी, महाराष्ट्री एवं मागधी का प्रयोग किया है। भट्टनारायण (ई. सन् आठवीं शताब्दी के पूर्व) के **वेणीसंहार** में शौरसेनी की प्रधानता मिलती है। कहीं-कहीं मागधी का भी प्रयोग है। सोमदेव द्वारा बारहवीं शताब्दी में लिखे गये **ललितविग्रहराज** में महाराष्ट्री, शौरसेनी व मागधी का प्रयोग मिलता है। 17वीं शताब्दी में

महादेव कवि द्वारा विरचित अद्भुत दर्पण में सीता, त्रिजटा, सरमा, आदि स्त्री पात्र एवं विदूषक ने संवादों में प्राकृत भाषा का ही प्रयोग किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि प्राकृत में स्वतंत्र रूप से लिखा कोई नाटक प्राप्त नहीं है, किन्तु ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर 17वीं शताब्दी तक संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककारों ने अपने नाटकों में प्राकृत भाषा का प्रचुर प्रयोग करते हुए इसकी महत्ता को स्वीकारा है।

## प्राकृत सट्टक

भारतीय साहित्य की नाट्य परम्परा में सट्टक साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सट्टक साहित्य का सम्बन्ध प्रायः लोकजीवन की विविध प्रवृत्तियों से होता है। नृत्य द्वारा इसका अभिनय किया जाता है। इसका उद्देश्य लोकनृत्यों, चर्चरी, आश्चर्यजनक घटनाओं तथा शृंगार के विभिन्न आयामों द्वारा लोक अनुरंजन करना होता है।

## स्वरूप एवं विशेषताएँ

सट्टक शब्द देशी है, जो बाद में संस्कृत में रूढ़ हो गया। सट्टक शब्द की विभिन्न परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। कर्पूरमंजरी में सट्टक की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

सो सट्टओ त्ति भण्णइ दूरं जो, णाडिआइं अणुहरइ ।

किं उण एत्थ पवेसअविक्कंभाइं न केवलं होति ॥ ( 1.6 )

अर्थात् — सट्टक वह कहा जाता है, जो नाटिका का अनुसरण करता है, किन्तु इसमें प्रवेशक और विष्कम्भक नहीं होते हैं। यद्यपि आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में सट्टक का उल्लेख नहीं किया था, परन्तु नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त (10वीं शताब्दी) ने अपनी टीका में सट्टक को नाटिका के समान ही बताया है। 12वीं शताब्दी के आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में सट्टक को परिभाषित करते हुए कहा है कि सट्टक नाटिका के समान होता है। इसमें प्रवेशक व विष्कम्भक नहीं होते हैं तथा सट्टक की रचना अकेले प्राकृत भाषा में ही होती है, नाटिका की तरह संस्कृत व प्राकृत दोनों में नहीं। आधुनिक विद्वानों में डॉ. ए.एन. उपाध्ये ने

चन्द्रलेखा सट्टक की प्रस्तावना में सट्टक को द्राविड भाषा का शब्द मानते हुए उसकी सुन्दर व्याख्या की है। उन्होंने नृत्य युक्त नाटकीय प्रदर्शन को सट्टक की संज्ञा दी है।

विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री ने सट्टक की निम्न विशेषताओं की ओर संकेत किया है—

1. सट्टक में चार जवनिकाएं होती हैं।
2. कथावस्तु कल्पित होती है और सट्टक का नामकरण नायिका के आधार पर होता है।
3. प्रवेशक और विष्कंभक का अभाव होता है।
4. अद्भुत रस का प्राधान्य रहता है।
5. नायक धीर ललित होता है।
6. पटरानी गम्भीरा और मानिनी होती है। इसका नायक के ऊपर पूर्ण शासन रहता है।
7. नायक अन्य नायिका से प्रेम करता है, पर महिषी उस प्रेम में बाधक बनती है। अन्त में उसी की सहमति से दोनों में प्रणय—व्यापार सम्पन्न होता है।
8. स्त्री पात्रों की बहुलता होती है।
9. प्राकृत भाषा का आद्योपान्त प्रयोग होता है।
10. कैशिकी वृत्ति के चारो अंगों द्वारा चार जवनिकाओं का गठन किया जाता है।
11. नृत्य की प्रधानता रहती है।
12. श्रृंगार का खुलकर वर्णन किया जाता है।
13. अन्त में आश्चर्यजनक दृश्यों की योजना की जाती है।

## कप्पूरमंजरी

कप्पूरमंजरी प्राकृत सट्टक परम्परा का प्रतिनिधि सट्टक है। इसके रचयिता 10वीं शताब्दी के कविराज यायावर वंशीय राजशेखर हैं। राजशेखर

ने कर्पूरमंजरी की चार जवनिकाओं में राजा चन्द्रपाल एवं कर्पूरमंजरी की प्रणय कथा निबद्ध की है। कथावस्तु पूर्णरूप से काल्पनिक है। राजा चन्द्रपाल के द्वारा अद्भुत दृश्य देखने का अनुरोध करने पर योगी भैरवानंद अपनी योग शक्ति से विदर्भ की राजकुमारी अपूर्व सुन्दरी कर्पूरमंजरी को राजा के समक्ष प्रस्तुत करता है। राजा उसके अनुपम सौन्दर्य को देखकर विमुग्ध हो जाता है। कर्पूरमंजरी राजमहिषी विभ्रमलेखा की मौसेरी बहन है, अतः रानी विभ्रमलेखा अन्तरंगता के कारण उसे अपने पास रखने का अनुरोध करती है। इसके पश्चात् कर्पूरमंजरी व राजा चन्द्रपाल के प्रणय, विरह—व्याकुलता, रानी के कठोर नियंत्रण तथा अन्त में कर्पूरमंजरी एवं राजा चन्द्रपाल का विवाह, राजा द्वारा चक्रवर्ती पद की प्राप्ति आदि घटनाओं के साथ सङ्क की सुखद समाप्ति होती है।

कर्पूरमंजरी सङ्क में कथावस्तु का विनियोजन इस प्रकार हुआ है कि अन्त तक रोचकता बनी रहती है। प्रारम्भ से अन्त तक नृत्य, संगीत व मनोरंजन की प्रचुरता विद्यमान है। सङ्क के सभी शास्त्रीय लक्षण इसमें विद्यमान हैं। नायक धीर, ललित, सौंदर्य प्रेमी व निश्चित स्वभाव वाला है। नायिका कर्पूरमंजरी मुग्धा, नवकामिनी व अपूर्व सौन्दर्य की स्वामिनी है। राजमहिषी मानिनी है, किन्तु राजा के चक्रवर्ती बनने की अभिलाषा के कारण उन्हें कर्पूरमंजरी के साथ विवाह करने की स्वीकृति दे देती है। शृंगार रस व प्रेम का वातावरण प्रारम्भ से अंत तक व्याप्त है। इस सङ्क में चर्चरी नामक नृत्य का भी प्रयोग हुआ है। शृंगार रस के साथ—साथ हास्य रस का भी अनूठा चित्रण है। तृतीय जवनिका में विदूषक का स्वप्न रोचक व विनोदपूर्ण है। इस सङ्क की भाषा शौरसेनी प्राकृत है। लोकोक्तियों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह सङ्क महत्त्वपूर्ण है। तत्कालीन लोक संस्कृति का इसमें प्रचुर चित्रण हुआ है। सिद्धयोगी भैरवानंद तत्कालीन तन्त्र—विद्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रसंगवश कौल धर्म की विशेषताओं का भी उल्लेख इसमें हुआ है।

काव्यात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से कर्पूरमंजरी अद्वितीय कृति है। इसका पदलालित्य व नाद—सौन्दर्य अनुपम है। इसके सभी पद्य सुन्दर हैं। छन्द अलंकारों का इस सङ्क में सुन्दर विनियोजन हुआ है। कवि ने सुन्दर

शब्दों के चयन द्वारा अनेक मौलिक उपमाओं का प्रयोग किया है। यथा – कर्पूरमंजरी के मुख सौन्दर्य की अभिव्यंजना करने वाला यह पद्य दृष्टव्य है—

**मा कहं पि वअणेण विब्भमो होउ इति तुह णुणामिन्दुणा ।  
लांछणच्छलमसीविसेसओ पेच्छ बिम्बफलये णिए कओ ॥ ( 3.32 )**

अर्थात् – निश्चय ही तुम्हारे मुख से लोगों को (चन्द्रमा की) भ्रान्ति न हो जाए, इसलिए देखो! चन्द्रमा के द्वारा अपने चन्द्र बिम्ब में मृगचिन्ह के बहाने काला धब्बा धारण कर लिया गया है।

वस्तु-वर्णन में अनुप्रास माधुर्य एवं गेयता का समावेश इस प्रकार हुआ है कि वर्ण्य विषय का चित्र आँखों के सामने प्रत्यक्ष उपस्थित हो जाता है। झूला झूलती कर्पूरमंजरी का यह चित्र दृष्टव्य है –

**रणन्तमणिणेउरं झणझणंतहारच्छंडं  
कलक्कणिदकिङ्किणीमुहरमेहलाडम्बरं ।  
विलोलवलआवलीजणिदमञ्जुसिञ्जारवं  
ण कस्स मणमोहणं ससिमुहीअहिन्दोलणं ? ॥ ( 2.32 )**

अर्थात् – रत्ननिर्मित नूपुरों की झंकार से युक्त, मुक्ताहारों की झनझनाहट से परिपूर्ण, कटिसूत्र (करधनी) की घण्टियों की मनोहर आवाज से युक्त, चंचल कंगनों की पंक्ति से उत्पन्न हुए सुन्दर शब्दों से युक्त, यह चन्द्रमुखी कर्पूरमंजरी के झूलने की क्रिया किसके मन को नहीं मोह लेती है, अर्थात् सभी के मन को आकर्षित कर रही है।

## रंभामंजरी

कर्पूरमंजरी के पश्चात् प्राकृत सट्टक की परम्परा में रंभामंजरी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके रचयिता मुनि नयचन्द्र षड्भाषविद् कवि थे। कवि नयचन्द्र का समय लगभग 14वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना गया है। कर्पूरमंजरी के आधार पर लिखे गये इस सट्टक को कवि ने कर्पूरमंजरी से अधिक श्रेष्ठ माना है। तीन जवनिकाओं वाले इस सट्टक में वाराणसी के राजा जैत्रचन्द्र व लाटदेश की राजकुमारी रंभामंजरी की प्रणय कथा वर्णित है।

यद्यपि कवि नयचन्द्र ने इसे कर्पूरमंजरी से अधिक श्रेष्ठ सट्टक बताया है, किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से इस सट्टक में कुछ कमियाँ रह गई हैं। तीन जवनिकाओं में ही भरतवाक्य के बिना अचानक समाप्त होने के कारण इसकी कथावस्तु अधूरी सी प्रतीत होती है। कथा का अंत कैसे हुआ यह कौतूहल अन्त तक बना रहता है। इसकी कथावस्तु भी अभिजात्य वर्ग के संस्कारों के विरुद्ध ही प्रतीत होती है। नायक के जीवन में मर्यादा का अभाव है। सात रानियों के होते हुए नायक रंभामंजरी का अपहरण करा कर विवाह करता है। इस दृष्टि से कथावस्तु में मौलिकता तो है, किन्तु सरसता का अभाव है।

यह सट्टक कर्पूरमंजरी के आधार पर ही लिखा गया है। अतः नायक-नायिका का स्वभाव, शृंगार, प्रेम, विरह, बसंतोत्सव आदि सभी कुछ कर्पूरमंजरी की तरह ही वर्णित है। भाषा की दृष्टि से संस्कृत व प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रयोग हुआ है। वर्णन-कौशल व छंद-अलंकारों का चारु विन्यास कवि के पांडित्य को दर्शाता है।

## चन्द्रलेहा

चन्द्रलेखा के कर्ता पारशव वंशीय कवि रुद्रदास हैं। इस सट्टक का रचनाकाल 1660 ई. है। इस सट्टक में चार जवनिकाएँ हैं, जिनमें राजा मानवेद और राजकुमारी चन्द्रलेखा के प्रणय एवं विवाह का वर्णन है। इसकी कथावस्तु का गठन कर्पूरमंजरी के समान है। सट्टक के प्रायः समस्त शास्त्रीय लक्षणों का इसमें निर्वाह किया गया है। महत्त्वाकांक्षी नायक मानवेद में प्रारंभ से ही चक्रवर्ती बनने की अभिलाषा है। चन्द्रलेखा नायिका के समस्त दिव्य गुणों से परिपूर्ण है। इस सट्टक में कवि ने शृंगार रस की उदात्त भूमि पर नायक-नायिका का प्रणय चित्रित किया है। अपनी कल्पना शक्ति से कवि ने कथावस्तु को सरस व रोचक बनाकर इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि घटनाएँ एक के बाद एक नाटकीय ढंग से घटित होती जाती हैं, जिससे कथावस्तु में कौतूहल व रोचकता बराबर बनी रहती है। यथा - विरह व्याकुल चन्द्रलेखा का नायक मानवेद के साथ कदलीगृह में मिलने का दृश्य रोमांचकता के साथ रोचकता को भी लिए हुए है। भाषा कोमल व प्रवाहयुक्त है। काव्य-तत्त्वों की दृष्टि से यह उत्कृष्ट रचना है।

पद्यों में प्रकृति का सजीव चित्रण हुआ है। नवचन्द्र का यह सरस चित्र दृष्टव्य है।

**चन्दण-चच्चिअ-सव्व-दिसंतो चारु-चओर-सुहाइ कुणन्तो ।  
दीह-पसारिअ-दीहिइ-बुंदो दीसइ दिण्ण-रसो णव-चन्दो ॥**

( 3. 21 )

अर्थात् – समस्त दिशाओं को चंदन से चर्चित करता हुआ, सुन्दर चकोर पक्षियों को सुख प्रदान करता हुआ, अपनी किरणों के समूह को दूर तक प्रसारित करता हुआ सरस नूतन चन्द्रमा दिखाई दे रहा है।

### आनन्दसुन्दरी /

आनन्दसुन्दरी सट्टक के रचयिता सरस्वती के अवतार महाराष्ट्रचूडामणि कवि घनश्याम हैं। कवि घनश्याम सर्वभाषा कवि माने जाते हैं। संस्कृत, प्राकृत व देशी सभी भाषाओं में इनकी रचनाएँ प्राप्य हैं। इनका समय लगभग 1700-1750 ई. है। आनंदसुंदरी प्राकृत का एक मौलिक सट्टक है, जिसकी कथावस्तु का गठन कर्पूरमंजरी के आधार पर नहीं हुआ है। इस सट्टक की कथावस्तु में राजा शिखण्डचन्द्र और अंगराज की कन्या आनंदसुंदरी के प्रेम, विवाह एवं पुत्र-प्राप्ति की घटना का वर्णन है। इस सट्टक की कथावस्तु में मौलिकता का पुट है। दो गर्भ नाटकों का विनियोजन कर कवि ने कथावस्तु की गतिशीलता को बनाये रखा है। गर्भाक की कल्पना इस सट्टक की अपनी मौलिक विशेषता है। पाठकों की रोचकता को बनाये रखने के लिए कई दृश्यों में कवि ने हास्य व व्यंग का समावेश भी किया है। भाषा वररुचि सम्मत प्राकृत है, कहीं कहीं संस्कृत का भी प्रयोग है। मराठी भाषा के बहुत से शब्द इसमें प्रयुक्त हुए हैं। इसके संवाद सारगर्भित हैं। रस, भाव, छंद, अलंकार आदि की विनियोजना की दृष्टि से यह उत्तम सट्टक है।

### सिंगारमंजरी

शृंगारमंजरी के कर्ता कवि विश्वेश्वर पंडित का समय लगभग 17वीं-18वीं शताब्दी का माना जाता है। शृंगारमंजरी सट्टक का साहित्य

में महत्त्वपूर्ण स्थान है। चार जवनिकाओं में राजा राजशेखर व नायिका शृंगारमंजरी की प्रणय कथा वर्णित है। इसकी कथावस्तु अत्यंत रोचक है। इसका आधार यद्यपि राजशेखर की कर्पूरमंजरी है, किन्तु कथानक गठन, घटना-विन्यास व वर्णनों में मौलिकता है। राजा द्वारा स्वप्न में शृंगारमंजरी को देखना, दासी द्वारा चित्र बनवाना, नायिका द्वारा आत्महत्या का प्रयास आदि घटनाएँ मौलिक हैं। बसंत, संध्या, कुंज, रात्रि, चन्द्रोदय आदि के वर्णन विशद एवं काव्यात्मक सौन्दर्य से अभिभूत हैं। शिल्प पुरातन होते हुए भी चरित्र-चित्रण एवं संवाद की दृष्टि से यह एक उत्तम कोटि की रचना है।

### सहायक ग्रन्थ

1. कालिदास ग्रन्थावली – सं. रेवाप्रसाद-द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
2. प्राकृत एवं जैनागम साहित्य – ले. डॉ. हरिशंकर पाण्डेय, श्री लक्ष्मी पब्लिकेशन कतिरा, आरा
3. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-ले. डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी
4. प्राकृत साहित्य का इतिहास – ले. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
5. मृच्छकटिकम् – अ. डॉ. श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ





## प्राकृत-व्याकरण, छंद, अलंकार एवं कोश-ग्रन्थ

प्राकृत भाषा में धर्म-दर्शन के ग्रन्थ, शिलालेख, कथा, काव्य, चरित आदि अनेक विधाओं में साहित्य लिखा गया, जो जैन धर्म व दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों की समुचित व्याख्या तो प्रस्तुत करता ही है, साथ ही तत्कालीन समाज व संस्कृति की गौरवमय झाँकी भी प्रस्तुत करता है। काव्य-तत्त्वों की दृष्टि से भी यह साहित्य अत्यन्त समृद्ध रहा है। इस विपुल साहित्य के कारण ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी तक प्राकृत अपने जनभाषा के स्वरूप से दूर हटकर साहित्यिक स्वरूप को प्राप्त कर चुकी थी। अतः विद्वानों द्वारा इस विशाल वाङ्मय की विधिवत् व्यवस्था के लिए उपलब्ध साहित्य के आधार पर व्याकरण के नियम निश्चित करने के प्रयत्न किये गये। व्याकरण के साथ-साथ छन्द, अलंकार एवं कोश-ग्रन्थ भी तैयार किये गए। इन रचनाओं में काव्य-तत्त्वों की मात्रा तो अल्प है, किन्तु सभ्यता एवं संस्कृति की एक सुव्यवस्थित परम्परा इनमें निहित है।

### व्याकरण-ग्रन्थ

किसी भी भाषा को सीखने के लिए व्याकरण का ज्ञान नितांत आवश्यक है। व्याकरण के द्वारा शब्दों की व्युत्पत्ति को स्पष्ट किया जाता है। जब कोई भाषा साहित्यिक भाषा का दर्जा प्राप्त कर लेती है, तब उसको एक विधिवत रूप प्रदान करने के लिए व्याकरण ग्रन्थ लिखे जाते हैं। प्राकृत भाषा प्रारंभ में जनभाषा के रूप में विकसित हुई थी, किन्तु ई. सन् की द्वितीय-तृतीय शताब्दी के आस-पास इसमें विपुल साहित्य लिखा जाने लगा। छठी शताब्दी तक तो यह पूर्ण रूप से साहित्य की भाषा बन गई। अतः विद्वानों द्वारा इसे परिनिष्ठित रूप प्रदान करने के लिए इसके विभिन्न व्याकरण-ग्रन्थ भी लिखे गये, जिनमें प्राकृत भाषा के विभिन्न पक्षों पर विधिवत् प्रकाश डाला गया है। प्राकृत भाषा के जो भी प्राचीन व्याकरण

ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं, वे प्रायः संस्कृत में ही लिखे गये हैं। यद्यपि प्राकृत व्याकरण के शब्दानुशासन सम्बन्धी नियम प्राचीन आगम ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। आचारांग में तीन वचन, काल, लिंग आदि का उल्लेख मिलता है। ठाणांग के आठवें अध्याय में आठ कारकों का निरूपण है। अनुयोगद्वारसूत्र में व्याकरण के अनेक तथ्य निरूपित हुए हैं। प्राकृत भाषा में लिखा प्राकृत का कोई प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। **ऐन्द्रव्याकरण, सहपाहुड** आदि प्राकृत के प्राचीन व्याकरण थे, लेकिन आज उपलब्ध नहीं हैं। ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से ही संस्कृत भाषा में लिखे प्राकृत के व्याकरण-ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

### नाट्यशास्त्र

आचार्य भरत द्वारा रचित नाट्यशास्त्र सर्वाधिक प्राचीन संस्कृत व्याकरण है। इसमें प्राकृत भाषा के व्याकरण सम्बन्धी कुछ नियमों का भी उल्लेख हुआ है। नाट्यशास्त्र के 17वें अध्याय में 6 से 23 श्लोकों में प्राकृत व्याकरण के कुछ सिद्धान्त विवेचित हैं। इसके अतिरिक्त 32वें अध्याय में प्राकृत के बहुत से उदाहरण दिये हैं। भरत के प्राकृत व्याकरण सम्बन्धी ये अनुशासन अत्यंत ही संक्षिप्त व अस्पष्ट हैं, किन्तु यह व्याकरण-ग्रन्थ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि भरत के समय में ही प्राकृत व्याकरण की आवश्यकता अनुभव की गई थी। दूसरी बात यह भी हो सकती है कि उस समय प्राकृत का कोई प्रसिद्ध व्याकरण-ग्रन्थ उपलब्ध रहा होगा। अतः आचार्य भरत ने प्राकृत व्याकरण के केवल कुछ सामान्य नियमों का मात्र उल्लेख करना ही पर्याप्त समझा होगा।

### प्राकृतलक्षण

प्राकृत के उपलब्ध व्याकरणों में चंड के प्राकृतलक्षण को सर्वाधिक प्राचीन माना गया है। इसका रचनाकाल अनुमानतः दूसरी-तीसरी शताब्दी माना गया है। यह ग्रन्थ अत्यंत संक्षिप्त है। इस व्याकरण-ग्रन्थ में 99 सूत्र हैं, जो तीन पाद में विभक्त हैं। इनमें सामान्य प्राकृत व्याकरण के नियम बताये गये हैं। ग्रन्थ की कुछ प्रतियों में चतुर्थ पाद भी मिला है, जिसमें मात्र 4 सूत्र हैं। इन 4 सूत्रों में क्रमशः अपभ्रंश, पैशाची, मागधी व

शौरसेनी का उल्लेख करते हुए उनकी सामान्य विशेषताओं की ओर संकेत मात्र किया गया है।

## प्राकृतप्रकाश

प्राकृतप्रकाश के रचयिता वररुचि विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे। वररुचि का समय लगभग चौथी शताब्दी माना गया है। विषय व शैली दोनों ही दृष्टिकोण से यह ग्रन्थ उपलब्ध प्राकृत व्याकरण-ग्रन्थों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। प्राकृतप्रकाश में 12 परिच्छेद हैं। प्रथम 9 परिच्छेदों में महाराष्ट्री प्राकृत के लक्षणों का वर्णन है। दसवें में पैशाची, ग्यारहवें में मागधी व बारहवें में शौरसेनी का विवेचन है। वररुचि का यह ग्रन्थ इस दृष्टि से अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण है कि इस ग्रन्थ में महाराष्ट्री के साथ-साथ पहली बार मागधी व शौरसेनी की विशेषताओं का विस्तार से निरूपण किया गया है। प्राकृत भाषा के गहन अध्ययन के लिए वररुचि के प्राकृतप्रकाश का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

## सिद्धहेमशब्दानुशासन

उपलब्ध प्राकृत के व्याकरण-ग्रन्थों में 11-12वीं शताब्दी के आचार्य हेमचन्द्र द्वारा विरचित सिद्धहेमशब्दानुशासन सर्वाधिक व्यवस्थित व्याकरण-ग्रन्थ है। इस विशाल व्याकरण-ग्रन्थ में 8 अध्याय हैं। आरंभ के सात अध्यायों में संस्कृत व्याकरण का अनुशासन किया गया है तथा आठवें अध्याय में प्राकृत-व्याकरण का विस्तार से निरूपण किया गया है। आठवें अध्याय में चार पाद हैं। प्रथम पाद में 271 सूत्र हैं, जिनमें संधि, व्यंजनान्त शब्द, अनुस्वार, लिंग, विसर्ग आदि का विवेचन है। द्वितीय पाद में 218 सूत्रों में संयुक्त व्यंजनों के परिवर्तन, समीकरण, स्वरभक्ति, वर्णविपर्यय, शब्दादेश, तद्धित, निपात एवं अव्ययों का निरूपण किया गया है। इस पाद में आचार्य ने संस्कृत के द्व्यर्थ वाले शब्दों को प्राकृत में अलग-अलग करके समझाया है। इसी पाद में अव्ययों की भी विस्तृत सूची दी है। तृतीय पाद के 182 सूत्रों में कारक, विभक्तियों, क्रिया-रचना आदि के नियमों का कथन किया गया है। चौथे पाद में 448 सूत्र हैं, जिसमें से 329 सूत्रों में मागधी, पैशाची, चूलिका-पैशाची व शौरसेनी का अनुशासन विस्तार के

साथ किया गया है। शेष सूत्रों में अपभ्रंश व्याकरण पर प्रकाश डाला है। इस पाद में धात्वादेश की प्रमुखता है। यथा संस्कृत के कथ् धातु का प्राकृत में कह, बोल्ल, जंप आदि आदेश होता है। आचार्य हेमचन्द्र का यह ग्रन्थ अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण है। प्राकृत व्याकरण-ग्रन्थों के इतिहास में यह पहला ग्रन्थ है, जो सम्पूर्णता लिए हुए है। इस ग्रन्थ में अपभ्रंश व्याकरण के अनुशासन के लिए उदाहरण स्वरूप अपभ्रंश के जो दोहे लिए हैं, वे आज अपभ्रंश साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इस ग्रन्थ पर उन्होंने **तत्त्वप्रकाशिका** नामक बृहत्वृत्ति तथा **प्रकाशिका** नामक लघुवृत्ति भी लिखी है, जो मूल ग्रन्थ को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी हैं।

### प्राकृतानुशासन

प्राकृतानुशासन के कर्ता पुरुषोत्तम आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे। ये बंगाल के निवासी थे। इस ग्रन्थ के 3 से लेकर 20 अध्याय उपलब्ध हैं। प्रथम दो अध्याय लुप्त हैं। तीसरा अध्याय भी अपूर्ण है। प्रारंभिक अध्यायों में सामान्य प्राकृत का विवेचन है। आगे महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती व मागधी का अनुशासन किया गया है। इसके पश्चात् विभाषाओं में शाकारी, चांडाली, शाबरी, टक्कदेशी का नियमन किया गया है। अपभ्रंश में नागर, ब्राचड एवं उपनागर का तथा अन्त में कैकय, पैशाचिक, शौरसेनी-पैशाचिक आदि भाषाओं के लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं।

### प्राकृतशब्दानुशासन

प्राकृतशब्दानुशासन के कर्ता त्रिविक्रम 13वीं शताब्दी के वैयाकरण थे। आचार्य हेमचन्द्र के ग्रन्थ के आधार पर उन्होंने प्राकृतशब्दानुशासन की रचना की है। प्राकृतशब्दानुशासन में 1036 सूत्र हैं, जो तीन अध्यायों में विभक्त हैं। प्रत्येक अध्याय में 4-4 पाद हैं। प्रथम, द्वितीय व तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में प्राकृत का विवेचन है। तीसरे अध्याय के शेष पादों में क्रमशः शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका-पैशाची एवं अपभ्रंश का विवेचन किया गया है। यद्यपि त्रिविक्रम का यह ग्रन्थ हेमचन्द्र के सिद्धहेमशब्दानुशासन के आधार पर लिखा गया है, किन्तु देशी शब्दों का नियमन तथा अनेकार्थ शब्दों

का निरूपण इस ग्रन्थ की अपनी मौलिक विशेषता है। त्रिविक्रम ने इस पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखी है। इस व्याकरण पर लक्ष्मीधर की **षड्भाषाचन्द्रिका** तथा सिंहराज की **प्राकृतरूपावतार**, ये दो टीकाएँ भी प्राप्त होती हैं।

## संक्षिप्तसार

प्राकृत वैयाकरणों में संक्षिप्तसार के रचयिता क्रमदीश्वर का नाम अग्रणीय है। क्रमदीश्वर का समय लगभग 12वीं-13वीं शताब्दी माना गया है। इस व्याकरण-ग्रन्थ में 8 अध्याय हैं। प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत व्याकरण तथा आठवें अध्याय 'प्राकृतपाद' में प्राकृत व्याकरण का विवेचन किया गया है। संक्षिप्तसार पर क्रमदीश्वर ने स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखी है। प्रस्तुतीकरण व सामग्री की दृष्टि से यह व्याकरण हेमचन्द्र के व्याकरण-ग्रन्थ से पर्याप्त भिन्नता रखता है। वस्तुतः यह ग्रन्थ वररुचि के प्राकृतप्रकाश के अधिक निकट प्रतीत होता है।

## प्राकृतसर्वस्व

प्राकृतसर्वस्व के कर्ता मार्कण्डेय उड़ीसा के निवासी थे। इनका समय 1490-1565 ई. स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में 20 पाद हैं, जिनमें भाषा, विभाषा, अपभ्रंश व पैशाची का अनुशासन किया है। भाषा में महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती व मागधी को सम्मिलित किया है। विभाषा के शकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरी व ढक्की ये पाँच भेद किये गये हैं। अपभ्रंश के नागर, ब्राचड व उपनागर तथा पैशाची के कैकई, शौरसेन व पांचाली भेद करते हुए उनका अनुशासन किया है।

इस ग्रन्थ में प्रारम्भ के आठ पादों में महाराष्ट्री प्राकृत के नियम बताये हैं। नौवें में शौरसेनी, दसवें में प्राच्या, ग्यारहवें में अवन्ती और वाल्हीकी एवं बारहवें में मागधी, अर्धमागधी का अनुशासन किया है। तेरहवें से सोलहवें पाद तक विभाषा का, सत्रहवें और अठारहवें में अपभ्रंश भाषा का तथा उन्नीसवें और बीसवें पाद में पैशाची का नियमन किया है। इस प्रकार मार्कण्डेय ने अपने समय तक की विकसित समस्त लोक भाषाओं का व्याकरण अपने इस ग्रन्थ में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ की महत्ता को स्थापित करते हुए डॉ. पिशल ने लिखा है कि,

महाराष्ट्री, शौरसेनी, अर्धमागधी के अतिरिक्त अन्य प्राकृत बोलियों के नियमों का ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से मार्कण्डेय का प्राकृतसर्वस्व अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मार्कण्डेय ने अपने ग्रन्थ में प्राचीन वैयाकरणों के सम्बन्ध में भी कई तथ्य प्रस्तुत किए हैं।

इन प्रमुख व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त रामशर्मा तर्कवागीश (17वीं शताब्दी) का **प्राकृतकल्पतरु**, शुभचन्द्रसूरी का **शब्दचिंतामणि**, रघुनाथ (18वीं शताब्दी) का **प्राकृतानंद**, देवसुन्दर का **प्राकृतयुक्ति** आदि भी प्राकृत व्याकरण के अच्छे ग्रन्थ हैं, जिनमें प्राकृत भाषा के साहित्यिक स्वरूप का यर्थाथ विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

## आधुनिक व्याकरण-ग्रन्थ

उपर्युक्त परम्परागत प्राकृत व्याकरण ग्रन्थों के परिचय में एक बात प्रमुख रूप से सामने आती है कि इन सभी व्याकरण-ग्रन्थों में संस्कृत भाषा को मूल में रखकर प्राकृत भाषा को सीखने-सीखाने का प्रयत्न किया गया है, यही कारण है कि लोगों में यह मिथ्या धारणा प्रचलित हो गई कि संस्कृत में निपुणता प्राप्त किये बिना प्राकृत भाषा का स्वतंत्र रूप से अध्ययन नहीं किया जा सकता है। इस मिथ्या धारणा को समाप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि सरल व सुबोध शैली में लिखा प्राकृत का कोई व्याकरण-ग्रन्थ उपलब्ध हो, जो अभ्यास व विभिन्न प्रयोगों द्वारा हिन्दी माध्यम से स्वतंत्र रूप से प्राकृत भाषा का ज्ञान प्राप्त करा सके। इस सन्दर्भ में आधुनिक विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण प्रयास किये हैं।

## प्राकृत भाषाओं का व्याकरण

19वीं शताब्दी में जर्मन विद्वान डॉ. आर. पिशल द्वारा लिखा गया **ग्रामेटिक्स डे प्राकृतस** नामक जर्मन ग्रन्थ **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण** नाम से हिन्दी भाषा में अनुवादित हुआ है। इसके हिन्दी अनुवादक डॉ. हेमचन्द्र जोशी हैं। डॉ. पिशल का यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा के अध्ययन हेतु अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में प्राकृत का कोई व्याकरणकार नहीं छूटा है। सभी व्याकरण-ग्रन्थों के नियम इसमें शृंखला-बद्ध रूप से दिये गये हैं।

वस्तुतः डॉ. पिशल ने अपने समय तक के उपलब्ध सभी व्याकरण और सारे प्राप्य साहित्य को मथकर यह व्याकरण तैयार किया है और प्राकृत व्याकरण के अधिकांश नियम पक्के कर दिये हैं।

## अभिनव प्राकृत-व्याकरण

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने **प्राकृत प्रबोध** के पश्चात् ई. सन् 1963 में **अभिनव प्राकृत-व्याकरण** की रचना की है। इस व्याकरण-ग्रन्थ में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि अन्य किसी भी भाषा के व्याकरण को समझे बिना व्यक्ति इस ग्रन्थ के अध्ययन से प्राकृत भाषा के अनुशासन सम्बन्धी समस्त नियमों को समझ सके। प्रमुख रूप से महाराष्ट्री, शौरसेनी, जैन शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, पैशाची, चूलिका-पैशाची एवं अपभ्रंश का अनुशासन इस ग्रन्थ में किया गया है। भाषा-विज्ञान के विभिन्न सिद्धान्तों का भी इसमें विवेचन किया गया है।

## प्राकृतमार्गोपदेशिका

पं. बेचरदास जीवराज दोशी ने ई. सन् 1968 में हिन्दी माध्यम से प्राकृत भाषा के अध्ययन हेतु **प्राकृतमार्गोपदेशिका** की रचना की। इसमें प्राकृत, पालि, शौरसेनी, मागधी, पैशाची व अपभ्रंश भाषा के पूरे नियम बताकर संस्कृत के साथ तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ का मूल आधार आचार्य हेमचन्द्र का व्याकरण तथा डॉ. पिशल का प्राकृत भाषाओं का व्याकरण है।

## प्राकृत स्वयं-शिक्षक

**प्राकृत स्वयं-शिक्षक** के लेखक प्राकृत भाषा के आधुनिक विद्वान् डॉ. प्रेम सुमन जैन हैं। प्राकृत स्वयं-शिक्षक प्राकृत के विद्यार्थियों के लिए सरल एवं सुबोध शैली में लिखी गई कृति है। इसमें वैकल्पिक प्रयोगों से रहित प्राकृत भाषा के स्वरूप को विभिन्न वाक्य-प्रयोगों एवं चार्टों द्वारा समझाया गया है। जिन विद्यार्थियों को बिल्कुल भी संस्कृत या प्राकृत नहीं आती है, वे इस सरल पद्धति से बड़ी ही आसानी से स्वयं ही प्राकृत भाषा का अध्ययन कर सकते हैं और उसे सीख सकते हैं। डॉ. प्रेम सुमन जैन

ने हिन्दी भाषा के माध्यम से शौरसेनी प्राकृत के अध्ययन हेतु **शौरसेनी प्राकृत भाषा एवं व्याकरण** नामक एक शोध ग्रन्थ भी लिखा है।

## डॉ. सोगाणी के प्राकृत-अपभ्रंश व्याकरण

प्राकृत भाषा को हिन्दी आदि मातृभाषाओं के माध्यम से सीखने-सीखाने के लिए कृत-संकल्प डॉ. कमलचन्द सोगाणी ने वर्तमान समय में अनेक प्राकृत व अपभ्रंश व्याकरण के ग्रन्थों की रचना की है। उनकी कृति **प्राकृत रचना सौरभ** आधुनिक प्राकृत व्याकरण-ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। हिन्दी माध्यम से इस ग्रन्थ में महाराष्ट्री, शौरसेनी व अर्धमागधी इन तीनों ही प्राकृतों को विभिन्न विकल्पों सहित एक साथ सीखाने का प्रयत्न किया गया है। विभिन्न पाठों को इस प्रकार क्रम से रखा गया है कि जिज्ञासु पाठक बिना रटे स्वतः ही प्राकृत भाषा के विभिन्न नियमों से अवगत होता चला जाता है। डॉ. सोगाणी की प्राकृत रचना सौरभ की सम्पूर्णता उनकी अगली कृति **प्राकृत अभ्यास सौरभ** में है। प्राकृत अभ्यास सौरभ की नवीन शैली व इसका आधुनिक प्रस्तुतीकरण में डूबा पाठक स्वतः अभ्यास करते-करते प्राकृत सीख जाता है। प्राकृत भाषा को सीखने के लिए ये पुस्तकें अत्यंत उपयोगी हैं। आगे इसी क्रम में **प्रौढ़ प्राकृत रचना सौरभ ( भाग 1 )** की रचना कर लेखक ने संस्कृत भाषा में रचित प्राकृत व्याकरण के संज्ञा व सर्वनाम सूत्रों का विवेचन प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही संख्यावाची शब्दों व उनके विभिन्न प्रकारों को समझाने का प्रयास भी किया है। सूत्रों का विश्लेषण एक ऐसी शैली से किया गया है, जिससे अध्ययनार्थी संस्कृत के अति सामान्य ज्ञान से ही सूत्रों को समझ सकते हैं। सूत्रों को पाँच सोपानों में समझाया गया है - 1. सूत्रों में प्रयुक्त पदों का सन्धि विच्छेद किया गया है, 2. सूत्रों में प्रयुक्त पदों की विभक्तियाँ लिखी गई हैं, 3. सूत्रों का शब्दार्थ लिखा गया है, 4. सूत्रों का पूरा अर्थ (प्रसंगानुसार) लिखा गया है तथा 5. सूत्रों के प्रयोग लिखे गये हैं। परिशिष्ट में सूत्रों में प्रयुक्त सन्धि-नियम एवं सूत्रों का व्याकरणिक विश्लेषण भी दिया गया है, जिससे विद्यार्थी सुगमता से समझ सकें।

प्राकृत व्याकरण की तरह अपभ्रंश भाषा के व्याकरण को सरल एवं सुबोध शैली में समझाने हेतु **अपभ्रंश रचना सौरभ, अपभ्रंश अभ्यास**



**सौरभ एवं प्रौढ़ अपभ्रंश रचना सौरभ** की रचना कर डॉ. सोगाणी ने अपभ्रंश को सीखने-सीखाने के लिए नये-आयाम प्रस्तुत किये हैं। विभिन्न प्राकृतों की तरह विद्यार्थी स्वतः अभ्यास हल करते-करते अपभ्रंश भाषा में निपुणता प्राप्त कर लेता है। इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए **प्रौढ़ प्राकृत-अपभ्रंश रचना-सौरभ** का प्रणयन कर प्राकृत अपभ्रंश-व्याकरण को पूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रन्थ में अपभ्रंश व प्राकृत के क्रिया-सूत्रों एवं कृदन्तों का विश्लेषण कर उन्हें अत्याधुनिक तरीके से समझाया गया है।

**प्राकृत व्याकरण** नामक पुस्तक में व्याकरण को एक नई विधा से लिखा गया है, इसमें संधि, समास, कारक तद्धित, स्त्री प्रत्यय एवं अव्यय को सरल पद्धति से समझाया गया है।

इन व्याकरण-ग्रन्थों के साथ-साथ डॉ. सोगाणी ने आगमों तथा प्राकृत एवं अपभ्रंश के विभिन्न ग्रन्थों से पद्यांशों व गद्यांशों का संकलन कर उनका व्याकरणिक विश्लेषण सहित हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है। यह प्राकृत-अपभ्रंश व्याकरणिक-जगत में नवीन प्रयोग है। इस तरह की पद्धति से किया गया अनुवाद पूर्व में कहीं उपलब्ध नहीं है। डॉ. सोगाणी द्वारा व्याकरणिक विश्लेषण सहित हिन्दी अनुवाद की प्रकाशित विभिन्न पुस्तकों की सूची निम्न हैं-

1. अपभ्रंश काव्य सौरभ
2. प्राकृत गद्य-पद्य सौरभ ( भाग-1, 2 )
3. आचारांग-चयनिका
4. दशवैकालिक-चयनिका
5. समणसुत्त-चयनिका
6. उत्तराध्ययन-चयनिका
7. अष्टपाहुड-चयनिका
8. समयसार-चयनिका
9. परमात्मप्रकाश व योगसार-चयनिका
10. वज्जालगग में जीवन-मूल्य
11. वाक्पतिराज की लोकानुभूति।

इन पुस्तकों में दिया गया व्याकरणिक विश्लेषण प्राकृत-अपभ्रंश व्याकरण को समझने का प्रयोगिक तरीका है। इनके अध्ययन से भावात्मक अनुवाद की अपेक्षा व्याकरणात्मक अनुवाद को आत्मसात किया जा सकेगा तथा प्राकृत ग्रन्थों का सही-सही अर्थ समझा जा सकेगा। वस्तुतः डॉ. सोगाणी की इन पुस्तकों ने न केवल प्राकृत भाषा के अध्ययन को एक नई सारगर्भित दिशा प्रदान की है, अपितु इस धारणा को प्रतिष्ठापित

किया है कि संस्कृत भाषा में निपुणता प्राप्त किये बिना भी प्राकृत भाषा का अध्ययन स्वतंत्र रूप से किया जा सकता है।

यही नहीं प्राकृत और अपभ्रंश भाषा का अंग्रेजी के माध्यम से अध्ययन करने वाले अध्ययनार्थियों के लिए उन्होंने उपर्युक्त पुस्तकों में से आवश्यक पुस्तकों का प्रकाशन अंग्रेजी में प्रारम्भ कर दिया है। इसी क्रम में **Apabhraṁśa Grammar & Composition** नामक पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। **Prākṛta Grammar & Composition, Apabhraṁśa Exercise Book & Prākṛta Exercise Book** नामक पुस्तकें प्रकाशन प्रक्रिया में हैं।

### प्राचीन अर्धमागधी की खोज में

पालि-प्राकृत के मनीषी स्व. प्रो. के. आर. चन्द्रा ने अर्धमागधी आगम ग्रन्थों के सम्पादन कार्यों को गति देने के लिए तथा प्राचीन अर्धमागधी व्याकरण के नियमों को निर्धारित करने के लिए **प्राचीन अर्धमागधी की खोज में** नामक पुस्तक लिखी है, जो 1991 में प्रकाशित हुई है। प्राचीन जैन आगमों पर शोधकार्य के लिए यह पुस्तक उपयोगी है। इसके अतिरिक्त डॉ. चन्द्रा की **प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण** नामक कृति भी विभिन्न प्राकृतों के तुलनात्मक अध्ययन के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है।

### प्राकृत वाक्य रचना बोध

प्रसिद्ध मनीषी आचार्य महाप्रज्ञ ने आचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण के अनुसार प्राकृत वाक्य रचना बोध नामक ग्रन्थ 1991 में प्रकाशित किया है। इसमें प्राकृत व्याकरण के 1114 सूत्र नियम के नाम से हिन्दी अनुवाद व उदाहरण सहित वर्णित हैं। यह ग्रन्थ अभ्यास के माध्यम से प्राकृत व्याकरण का ज्ञान कराता है, किन्तु इसके लिए संस्कृत भाषा का विशेष ज्ञान होना अपेक्षित है।

इसी क्रम में डॉ. उदयचन्द्र जैन ने **हेम-प्राकृत-व्याकरण-शिक्षक** नामक पुस्तक लिखी है। इस तरह प्राकृत भाषा एवं व्याकरण पर प्राचीन वैयाकरणों के अतिरिक्त आधुनिक विद्वानों ने भी पर्याप्त कार्य किया है।

## छंदशास्त्र

जिस प्रकार भाषा को सार्थक बनाने के लिए व्याकरण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार काव्य की सार्थकता के लिए छंद-प्रयोग अपेक्षित है। विषयगत मनोभावों के संचार के लिए तथा कविता में संतुलन बनाये रखने हेतु काव्य में छंद का व्यवहार किया जाता है। मनुष्य को मनुष्य के प्रति संवेदनशील बनाने का सबसे प्रमुख साधन छंद हैं। छंद, ताल, तुक व स्वर सम्पूर्ण मनुष्य को एक करते हैं तथा इसके आधार पर मनुष्य का भाव स्वाभाविक रूप से दूसरे तक पहुँच जाता है। स्पष्ट है कि छंद काव्य का अटूट अंग है। प्राकृत साहित्य में छन्द परम्परा का विकास न केवल स्वतंत्र रूप में हुआ, अपितु छंद विषयक प्राकृत की उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। प्राकृत भाषा का सीधा सम्बन्ध लोक जीवन से था, अतः यहाँ नृत्य व संगीत के आधार पर छंदों का विकास हुआ। प्राकृत में ही सर्वप्रथम मात्रा-छन्दों की परम्परा का विकास हुआ। संस्कृत का आर्या छन्द प्राकृत के गाथा छन्द के समान है। प्राकृत साहित्य में प्रयुक्त हुए विभिन्न छंदों के आधार पर विद्वानों द्वारा महत्त्वपूर्ण छन्द ग्रन्थ लिखे गये हैं। प्रमुख छंद-ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

### वृतजातिसमुच्चय

इसके रचयिता विरहांक नामक कवि संस्कृत व प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनका समय ई. सन् की छठी शताब्दी है। यह छंद-ग्रन्थ पद्यबद्ध रचना है। छः नियमों (अध्यायों) में विभक्त इस ग्रन्थ में मात्रा छंद तथा वर्ण छंद पर विचार किया गया है। प्रथम नियम में प्राकृत के समस्त छंदों के नाम गिनाये हैं, जिन्हें आगे के नियम में समझाया है। तीसरे नियम में 52 प्रकार के द्विपदी छंदों का विवेचन है। चौथे नियम में 26 प्रकार के गाथा छंद तथा पाँचवें नियम में 50 प्रकार के संस्कृत के वर्ण छंदों का निरूपण किया गया है। छठे नियम में प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट आदि छः प्रत्ययों का वर्णन है।

### स्वयंभूछंद

स्वयंभूछंद के रचयिता अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभू हैं। इनका समय लगभग 8-9वीं शताब्दी माना गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ तेरह अध्यायों में

विभक्त है। प्रथम आठ अध्यायों में प्राकृत छन्दों का विवेचन किया गया है तथा अन्तिम पाँच अध्यायों में अपभ्रंश छंदों का विवेचन है। छंदों को समझाने के लिए उदाहरण प्रायः प्राकृत कवियों की रचनाओं के ही दिये गये हैं। स्वयंभू के पउमचरिउ के अनेक उदाहरण भी इसमें आये हैं। उदाहरण स्वरूप आई गाथाएँ काव्य-तत्त्वों की दृष्टि से समृद्ध हैं। सुभाषितों का भी इनमें प्रयोग हुआ है। यथा -

ते विरला सप्पुरिसा जे अभणंता घडंति कज्जालावे ।

थोअ च्चिअ ते अ दुमा जे अमुणिअकुसुमणिगमा देंति फलं ॥

( गा.3.1 )

अर्थात् - जैसे वे वृक्ष थोड़े ही होते हैं, जो फूलों के निकले बिना फल देते हैं। उसी प्रकार वे सज्जन पुरुष बिरले ही होते हैं, जो बिना प्रलाप किये कार्य पूरा करते हैं।

## गाहालक्षण

गाहालक्षण प्राकृत छंदों पर लिखी गई अति प्राचीन कृति है। इस ग्रन्थ के रचयिता नंदितादय नामक जैन आचार्य हैं। इनका समय ई. सन् 1000 के लगभग माना गया है। इस ग्रन्थ में 96 (कहीं-कहीं 92) गाथाएँ हैं। इनमें प्राकृत के सर्वप्रिय 'गाथा छंद' के भेद व लक्षणों पर विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

## कविदर्पण

नन्दिषेणकृत 'अजितशान्तिस्तव' के ऊपर लिखी जिनप्रभ की टीका में कविदर्पण का उल्लेख प्राप्त होता है। इस रचना के मूल कर्ता का नाम ज्ञात नहीं है। विद्वानों ने इसका रचनाकाल लगभग 13वीं शताब्दी माना है। इसमें छः उद्देश हैं। प्रथम उद्देश में मात्रा, वर्ण तथा दोनों के मिश्रण से छंद के तीन प्रकार बताये हैं। द्वितीय उद्देश में 11 प्रकार के मात्रा छंदों का वर्णन है। तृतीय उद्देश में सम, अर्धसम और विषम वर्णिक छंदों का तथा चतुर्थ उद्देश में समचतुष्पदी, अर्धसमचतुष्पदी तथा विषमचतुष्पदी का वर्णन है। पाँचवें उद्देश में उभय छंदों का तथा छठे उद्देश में प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट

आदि प्रत्ययों का वर्णन है। इस ग्रन्थ में छंदों को समझाने हेतु हेमचन्द्र के छंदोनुशासन, श्री हर्ष की रत्नावली नाटिका आदि के उदाहरण मिलते हैं।

## प्राकृतपैंगलम्

प्राकृतपैंगलम् छन्दशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण संग्रह ग्रन्थ है। इसके संग्रहकर्ता का नाम ज्ञात नहीं है। विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर इसका रचनाकाल 13वीं-14वीं शताब्दी के लगभग माना गया है। इस छंद-ग्रन्थ में पुरानी हिन्दी के आदिकालीन कवियों द्वारा प्रयुक्त वर्णिक व मात्रिक छंदों का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ दो परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में मात्रिक छंदों का तथा द्वितीय परिच्छेद में वर्णवृत्तों का विवेचन है। इस छन्द ग्रन्थ में प्रयुक्त उदाहरण काव्य-तत्त्वों की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध हैं। इस ग्रन्थ में मेवाड़ के राजपूत राजा हम्मीर की वीरता का सुन्दर चित्रण है। यथा- गाहिणी छन्द में हम्मीर की वीरता का यह पद्य दृष्टव्य है-

**मुंचहि सुंदरि पाअं अप्पहि हसिऊण सुमुहि खगं मे ।**

**कप्पिअ मेच्छशरीरं पेच्छइ वअणाइँ तुम्ह धुअ हम्मीरो ॥ ( गा. 71 )**

अर्थात्-युद्ध भूमि पर जाता हुआ हम्मीर अपनी पत्नी से कह रहा है-हे सुन्दरी! पाँव छोड़ दो, हे सुमुखी! हँसकर मुझे तलवार दो। म्लेच्छों के शरीर को काटकर हम्मीर निःसंदेह तुम्हारे मुख के दर्शन करेगा।

अवहट्ट का प्रयोग इस ग्रन्थ में बहुत मिलता है। मध्य-युगीन छंदशास्त्रियों ने इस ग्रन्थ की परम्परा का पूरा अनुकरण किया है।

इन प्रमुख छंद ग्रन्थों के अतिरिक्त प्राकृत के कुछ अन्य छंद-ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है। नन्दिषेण कृत अजितशान्तिस्तव में प्रयुक्त 25 छंदों का विवेचन जिनप्रभ की टीका में **छंदोलक्षण** के अन्तर्गत मिलता है। कविदर्पण के टीकाकार ने अपनी टीका में **छंदःकदली** का उल्लेख किया है। इसके कर्ता का नाम ज्ञात नहीं है। वज्रसेनसूरि के शिष्य रत्नशेखरसूरि द्वारा विरचित **छंदःकोश** में 74 गाथाओं में अपभ्रंश के छंदों का विवेचन मिलता है।

## अलंकारशास्त्र

जिस प्रकार भाषा को व्यवस्थित करने के लिए व्याकरण-ग्रन्थों तथा काव्य की सार्थकता के लिए छंद ग्रन्थों की आवश्यकता महसूस की गई उसी प्रकार काव्य के मर्म को समझने के लिए अलंकार-ग्रन्थों की रचना की गई। काव्य का स्वरूप, रस, गुण, दोष, रीति, अलंकार एवं काव्य-चमत्कार का निरूपण अलंकारशास्त्रों में ही पाया जाता है। अलंकारशास्त्रों के अर्वाचीन प्रणेताओं में भरत, भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, भोजराज, हेमचन्द्र आदि प्रमुख हैं। इनके द्वारा रचित प्रमुख अलंकारशास्त्रों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। ये अलंकारशास्त्र संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं, किन्तु इनमें लक्षणों को समझाने के लिए उदाहरण स्वरूप पद्य प्राकृत भाषा में दिये गये हैं। इन अलंकारशास्त्रों में उद्धृत प्राकृत गाथाओं पर प्रो. बी. एम. कुलकर्णी ने शोध कार्य किया है। प्रो. जगदीश चन्द्र जैन ने **प्राकृतपुष्करिणी** नामक ग्रन्थ में इन सब प्राकृत गाथाओं का संग्रह किया है।

## नाट्यशास्त्र

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र (अ. 17, 1-5) में नाट्य में प्रयुक्त होने वाले काव्य के 36 लक्षण बताए हैं। इनमें से कुछ लक्षणों को दण्डी आदि प्राचीन आलंकारिकों ने अलंकार के रूप में स्वीकार किया है। धीरे-धीरे ये लक्षण लुप्त होते गये। भूषण अथवा विभूषण नामक प्रथम लक्षण में अलंकारों और गुणों का समावेश हुआ। नाट्यशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक, यमक— ये चार अलंकार नाटक के अलंकार माने गये हैं।

## जैन सिद्धान्त ग्रन्थ

प्राचीन जैन सिद्धान्त ग्रन्थों में व्याकरण के उल्लेखों के साथ-साथ काव्यरस, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि विविध अलंकारों का प्रयोग हुआ है। वि.सं. की पाँचवी शताब्दी में रचित **नन्दीसूत्र** में काव्यरस का एवं **स्वरपाहुड** में 11 अलंकारों का उल्लेख है। **अनुयोगद्वारसूत्र** में नौ रसों का उल्लेख प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में सूत्र का लक्षण बताते हुए आर्यरक्षित ने कहा है कि सूत्र अलंकृत, अनुप्रासयुक्त और मधुर होना चाहिए।

ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में जैन आचार्यों के लिखे गये अनेक काव्यमय कथाग्रन्थ प्राप्त होते हैं, जिनमें तरंगवतीकहा, वसुदेवहिंडी, धूर्त्ताख्यान, कुवलयमाला आदि प्रमुख हैं। ये सभी कथाग्रन्थ रस एवं अलंकारों से ओतपोत हैं। आठवीं शताब्दी के आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थ में कहा है कि सूत्र 32 दोषों से मुक्त और "छवि" अलंकार से युक्त होना चाहिए। अर्थात् सूत्र की भाषा शब्दालंकार एवं अर्थालंकार से विभूषित होनी चाहिए। आठवीं शताब्दी के कवि पुष्पदंत की रचनाओं में भी काव्य तत्त्व प्रचुरता से विद्यमान दिखाई देते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जैन-आचार्यों को अलंकारशास्त्रों के बारे में पर्याप्त जानकारी थी, लेकिन नवीं शताब्दी से पूर्व जैन साहित्य में स्वतंत्र रूप से किसी अलंकारशास्त्र की रचना हुई ऐसी जानकारी नहीं मिलती है। नवीं शताब्दी के आचार्य बप्पभट्टिसूरि रचित **कवि-शिक्षा** नामक रचना का उल्लेख मिलता है किन्तु यह उपलब्ध नहीं है। प्राकृत भाषा में रचित एक मात्र कृति **अलंकारदर्पण** प्राप्त है। आचार्य रत्नप्रभसूरि रचित **नेमिनाथचरित** में भी अलंकारशास्त्र की चर्चा प्राप्त होती है। इसी प्रकार अन्य जैन विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थों में प्रसंगवश अलंकार एवं रस विषयक उल्लेख मिलते हैं। इसके अतिरिक्त जैनेतर विद्वानों की कृतियों पर भी अनेक जैनाचार्यों ने व्याख्या ग्रन्थ लिखे हैं। ये ग्रन्थ जैन विद्वानों के गहन पाण्डित्य के परिचायक हैं।

### **अलंकारदर्पण (अलंकारदप्पण)**

अलंकारदर्पण प्राकृत भाषा में अलंकार विषय पर लिखा गया एक मात्र स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमें 134 गाथाएँ हैं। अलंकारों के लक्षण, उदाहरण, काव्य-प्रयोजन आदि विषयों पर प्राकृत भाषा में पद्य लिखे गये हैं। यह ग्रन्थ संक्षिप्त होने पर भी अलंकार-ग्रन्थों में अति प्राचीन उपयोगी ग्रन्थ है। इसके कवि अज्ञात है। रचना काल निश्चित नहीं है। 12वीं शताब्दी की इस ग्रन्थ की एक प्रति प्राप्त हुई है, उसके आधार पर कि इसका रचनाकाल 12वीं शताब्दी के पूर्व में ही मानना समीचीन होगा।

### **काव्यादर्श**

काव्यादर्श के रचयिता आचार्य दण्डी अलंकारशास्त्र जगत के

बहुत बड़े विद्वान माने जाते हैं। इनका समय ई. सन् की 7-8वीं शताब्दी के मध्य माना जाता है। अपने इस ग्रन्थ में उन्होंने काव्य की शोभा को बढ़ाने वाले अलंकारों का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने भाषा के संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र ये चार भेद किये हैं। सूक्ति प्रधान होने के कारण महाराष्ट्री को उत्कृष्ट प्राकृत माना है। शौरसेनी, गौड़ी, लाटी एवं अन्य देशों में बोली जाने वाली भाषाओं को प्राकृत तथा गोप, चाण्डाल और शकार आदि द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं को अपभ्रंश कहा है। बृहत्कथा को भूत-भाषामयी और अद्भुत अर्थ वाली बताया है।

### काव्यालंकार

काव्यालंकार के रचयिता आचार्य रुद्रट हैं। इनका समय लगभग 9वीं शताब्दी माना गया है। इस ग्रन्थ में 16 अध्याय हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार में अलंकारशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों, भाषा, रीति, रस, वृत्ति, अलंकार आदि का विस्तार से वर्णन किया है। अलंकारों का वर्णन इनके ग्रन्थ की विशेषता है। इस ग्रन्थ में रुद्रट ने अलंकारों के वर्गीकरण के लिए सैद्धान्तिक व्यवस्था की है। कवि ने भाषा के छः भेद बताये हैं - प्राकृत, संस्कृत, मागधी, पैशाची, शौरसेनी व अपभ्रंश। इन छः भाषाओं के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने संस्कृत-प्राकृत-मिश्रित गाथाओं की रचना की है।

### ध्वन्यालोक

ध्वन्यालोक के कर्ता आनंदवर्धन कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभापति थे। इनका समय लगभग 9वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना गया है। इस ग्रन्थ में ध्वनि को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया है। इस ग्रन्थ पर अभिनवगुप्त ने टीका लिखी है। मूल ग्रन्थ व टीका दोनों में मिलाकर प्राकृत की लगभग 46 गाथाएँ प्राप्त होती हैं।

### दशरूपक

दशरूपक के कर्ता धनंजय मालवा के परमारवंश के राजा मुंज के



राज कवि थे। इनका समय 10वीं शताब्दी माना गया है। भरत के नाट्यशास्त्र पर आधारित यह अलंकारशास्त्र कारिकाओं में रचा गया है। इस ग्रन्थ में प्राकृत के 26 पद्य उद्धृत हैं। ये पद्य गाथासप्तशती, कर्पूरमंजरी, रत्नावली आदि से लिये गये हैं। इस ग्रन्थ पर धनंजय के लघु भ्राता धनिक ने अवलोक नामक वृत्ति लिखी है।

## सरस्वतीकंठाभरण

सरस्वतीकंठाभरण के रचयिता भोजराज (ई. सन् 996-1051) मालवा की धारा नगरी के निवासी थे। इस ग्रन्थ में 331 प्राकृत पद्य उद्धृत हैं। प्राकृत गाथाएँ सेतुबंध, गाथासप्तशती, कर्पूरमंजरी आदि ग्रन्थों से उद्धृत की गई हैं। साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से सभी पद्य सरस एवं मधुर हैं। धीर पुरुषों की महत्ता का यह वर्णन दृष्टव्य है —

सच्चं गरुआ गिरिणो को भणइ, जलासवा न गंभीरा ।

धीरेहिं उवमाउं तहवि हु मह णात्थि उच्छाहो ॥ ( परिच्छेद - 4 )

अर्थात् — यह सत्य है, कौन नहीं कहता कि पर्वत विशाल होते हैं, तालाब गंभीर होते हैं, किन्तु तब भी धीर पुरुषों के साथ (उनकी) उपमा देने का मेरा उत्साह नहीं होता है।

## शृंगारप्रकाश

शृंगारप्रकाश भी भोजराज द्वारा रचित अलंकारशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में 36 प्रकाश हैं, जिसमें से 26वाँ प्रकाश लुप्त है। कवि भोजराज ने शृंगार रस को सभी रसों में प्रधान रस स्वीकार किया है। ग्रन्थ में शृंगार रस प्रधान प्राकृत पद्यों का विशेष उल्लेख किया गया है।

## वाग्भटालंकार

वाग्भटालंकार के कर्ता वाग्भट हैं। इनका समय लगभग वि.सं. की 12वीं शती माना जाता है। इस ग्रन्थ में 260 पद्य हैं जो कि पाँच परिच्छेद में विभक्त हैं। इस ग्रन्थ में वाग्भट ने काव्य का लक्षण, काव्य के 10 गुण, चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक — इन चार शब्दालंकारों, 35 अर्थालंकारों,

9 रसों आदि का विवेचन किया है। अनेक जैनाचार्यों ने वाग्भटालंकार पर वृत्तियाँ लिखी हैं जिनमें आचार्य सोमसुन्दरसूरि, सोमोदयगणि, जिनवर्धनसूरि, समयसुन्दरगणि आदि प्रमुख हैं।

## विदग्धमुखमण्डन

बौद्ध विद्वान् धर्मदास ने वि.सं. 1310 के आस-पास में विदग्धमुखमण्डन नामक अलंकारशास्त्र की रचना की। इस कृति में चार परिच्छेद हैं। इसमें प्रहेलिका और चित्रकाव्य संबंधी जानकारी भी दी गई है। इस ग्रन्थ पर अनेक जैनाचार्यों ने अनेक टीकाएँ लिखी हैं। 14वीं शताब्दी में विद्यमान खरतरगच्छीय आचार्य जिनप्रभसूरि ने विदग्धमुखमण्डन पर अवचूर्णि रची है।

## अलंकारसर्वस्व

12वीं शताब्दी के अलंकारशास्त्री राजानक रुय्यक ने अपने ग्रन्थ अलंकारसर्वस्व में अलंकारों का बड़ा ही पांडित्यपूर्ण ढंग से विवेचन किया है। इस ग्रन्थ में प्राकृत के 10 पद्यों को उद्धृत किया है। कश्मीर के राजा जयसिंह के महाकवि मंखुक ने इस पर वृत्ति लिखी है।

## काव्यप्रकाश

काव्यप्रकाश 12वीं शताब्दी के प्रसिद्ध अलंकारशास्त्री मम्मट की महत्त्वपूर्ण रचना है। काव्यप्रकाश में प्राकृत की 49 गाथाएँ उद्धृत हैं। इस ग्रन्थ पर अनेक टीका ग्रन्थ लिखे गये हैं।

## काव्यानुशासन

12वीं शताब्दी के विद्वान् आचार्य हेमचन्द्र ने मम्मट के काव्यप्रकाश के आधार पर काव्यानुशासन की रचना कर काव्य की समीक्षा प्रस्तुत की है। इस पर उनकी स्वोपज्ञवृत्ति भी है। मूल ग्रन्थ व वृत्ति में मिलाकर प्राकृत के 78 पद्य उद्धृत हैं। ये पद्य प्रायः शृंगार, नीति व वीरता सम्बंधी हैं। उदाहरण गाथासप्तशती, कर्पूरमंजरी, रत्नावली आदि से लिये गये हैं। युद्ध के लिए प्रस्थान करते हुए नायक की मनोदशा का यह चित्र दृष्टव्य है।

**एकतो रुअइ पिया अण्णत्तो समरतूरनिग्घोसो ।**

**नेहेण रणरसेण य भडस्स दोलाइयं हिअअम् ॥ ( 3.2 टीका 187 )**

अर्थात् - एक ओर प्रिया रो रही है, दूसरी ओर युद्ध की रणभेरी बज रही है। प्रेम व युद्ध रस के बीच में योद्धा का हृदय दोलायमान हो रहा है।

## साहित्यदर्पण

14वीं शताब्दी में कविराज विश्वनाथ ने मम्मट के अलंकारशास्त्र के ग्रन्थ काव्यप्रकाश की आलोचना के रूप में साहित्यदर्पण की रचना की। साहित्यदर्पण में प्राकृत के 24 पद्य उद्धृत हैं, जिनमें से अधिकांश गाथासप्तशती के हैं तथा कुछ स्वरचित भी हैं।

## अलंकारचिन्तामणि

अलंकारचिन्तामणि के रचयिता दिगम्बर विद्वान् अजितसेन है। उन्होंने 18वीं शताब्दी में इस ग्रन्थ की रचना की है। इसमें पाँच परिच्छेद हैं, जिनमें क्रमशः कविशिक्षा, चित्र-अलंकार, यमकादिवर्णन, अर्थालंकार और रसादि विषयों का वर्णन हुआ है।

इन प्रमुख ग्रन्थों के अतिरिक्त पंडितराज जगन्नाथ (17वीं शताब्दी) का **रसगंगाधर**, अमरचन्द्रसूरि का **अलंकारप्रबोध** आदि अलंकारशास्त्र के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, जिनमें काव्य की दृष्टि से प्राकृत के सुन्दर पद्य उद्धृत हैं।

## कोश-ग्रन्थ

किसी भी भाषा के तलस्पर्शी अध्ययन के लिए उस भाषा के कोश-ग्रन्थों का अध्ययन अनिवार्य है। प्रत्येक भाषा के शब्द समूह का रक्षण व पोषण कोश साहित्य द्वारा ही संभव है। कोश-ग्रन्थों में क्रमानुसार शब्दों का संग्रह, उनकी प्रकृति, विभिन्न अवयवों तथा अर्थों का विवेचन होता है। शब्दकोश के बिना विद्वानों को अर्थ ग्रहण में कठिनाई होती है, क्योंकि शब्द किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं बने होते हैं, बल्कि सामाजिक

सन्दर्भों में विशेष अभिव्यक्ति का माध्यम होते हैं। कोश से शब्दों के निश्चित अर्थ का बोध होता है। उदाहरण स्वरूप यदि कहा जाय कि 'मार को शंकर ने जलाया था' तो हम कोश की सहायता से ही जान सकते हैं कि यहाँ 'मार' का अर्थ कामदेव होगा। इसी प्रकार क्षेत्र-विस्तार के कारण लोकभाषा के शब्दार्थों में आई विभिन्नताओं को दूर करने में भी कोश ग्रन्थ सहायक होते हैं। सही-सही अर्थ बोध के अतिरिक्त कोश ग्रन्थ भाषा-विज्ञान के अध्ययन में भी सहायक होते हैं। यही नहीं कोश ग्रन्थों में संकलित शब्दों व उनके अर्थों के माध्यम से किसी भी देश के सांस्कृतिक इतिहास को समझा जा सकता है। अतः प्रत्येक भाषा के विद्वानों द्वारा कोश का निर्माण अवश्य किया जाता है।

प्राकृत भाषा के सुचारु अध्ययन हेतु विद्वानों द्वारा विभिन्न शब्दकोशों की रचना की गई। लेकिन विद्वानों द्वारा रचे गये इन कोश-ग्रन्थों का उद्गम स्थल प्राकृत आगम-साहित्य ही रहा है। **आचारांग, सूत्रकृतांग** आदि अंग ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर एकार्थक/पर्यायार्थक एवं निरुक्ति मूलक शब्दों का विनियोजन मिलता है। **भगवतीसूत्र** को तो प्राकृत का सर्वाधिक प्राचीन शब्दकोश कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस ग्रन्थ में जीव, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि शब्दों के अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं यथा - जीव के पर्यायवाची में पाणे, भूए, जीवे, सत्ते, विष्णू, वेदे आदि का उल्लेख हुआ है। **ज्ञातार्थकथा** में भी एकार्थक शब्दों का अनेक स्थानों पर प्रयोग हुआ है। **प्रश्रव्याकरण** में अहिंसा के साठ पर्यायों के नाम बताये हैं। इसी प्रकार उपांग, निर्युक्ति, टीका एवं चूर्णि साहित्य में भी अनेक स्थलों पर पर्याय शब्दों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। स्पष्ट है कि प्राकृत आगम साहित्य ही कोश-ग्रन्थों का उद्गम स्थल रहा है, जिसके आधार पर आगे चलकर आचार्यों द्वारा स्वतंत्र कोश-ग्रन्थों का प्रणयन किया गया है। यहाँ प्रमुख प्राकृत शब्द-कोशों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

## पाइयलच्छीनाममाला

पाइयलच्छीनाममाला उपलब्ध प्राकृत कोश-ग्रन्थों में स्वतन्त्र रूप से लिखा गया सबसे प्राचीन कोश-ग्रन्थ है। कवि धनपाल ने वि.स. 1029

में अपनी छोटी बहन सुन्दरी के अध्ययन हेतु धारानगर में इस कोश-ग्रन्थ की रचना की थी। यह अति संक्षिप्त पद्यबद्ध कोश है। इस कोश-ग्रन्थ में संस्कृत के अमरकोश की रीति से करीब 279 गाथाओं में 998 प्राकृत शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का संग्रह किया गया है। ग्रन्थ का प्रारम्भ मंगलाचरण से हुआ है, जिसमें विभिन्न देव पर्यायों का निरूपण हुआ है। शब्दों की चयन प्रक्रिया में अकारादि क्रम को न अपना कर विषय, स्थान व समय के आधार पर केवल नाम शब्दों का चयन कर उनके पर्यायों का उल्लेख किया गया है। संस्कृत व्युत्पत्तियों से सिद्ध प्राकृत शब्द तथा देशी शब्द इन दोनों ही प्रकार के शब्दों का संकलन इस ग्रन्थ में किया गया है। कवि ने भ्रमर के पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख निम्न गाथा में इस प्रकार किया है।

**फुल्लंधुआ रसाऊ भिंगा भसला य महुअरा अलिणो ।**

**इंदिदरा दुरेहा धुअगाया छप्पया भमरा ॥ ( गा. 11 )**

अर्थात् — फुल्लंधुअ, रसाऊ, भिंग, भसल, महुअर, अलि, इंदिदर, दुरेह, धुअगाय, छप्पय और भमर ये भ्रमर के 11 नाम हैं।

इस कोश में कुछ ऐसे शब्द भी आये हैं, जो आज भी लोकभाषाओं में प्रचलित हैं। यथा — आलसी के लिए 'मट्ट' शब्द तथा नूतन पल्लवों के लिए 'कुंपल' शब्द का प्रयोग किया है, जो आज भी ब्रज, भोजपुरी आदि में प्रयुक्त होता है। इस दृष्टि से यह कोश-ग्रन्थ भाषा-विज्ञान ही नहीं, अपितु तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं लोक मान्यताओं के अध्ययन में भी सहायक सिद्ध होता है।

## देशीनाममाला

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र द्वारा ई. सन् 1159 में विरचित प्राकृत के देशी शब्दों का यह शब्द कोश अत्यंत महत्त्वपूर्ण व उपयोगी है। इस ग्रन्थ की रचना सिद्धहेमशब्दानुशासन के आठवें अध्याय में वर्णित प्राकृत व्याकरण की पूर्ति एवं दुर्लभ शब्दों के अर्थ ज्ञान हेतु की गई है। इस शब्द कोश में 8 अध्याय व 783 गाथाएँ हैं, जिनमें 3978 शब्द संकलित हैं। शब्दों का संकलन अकारादि क्रम में किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र के

अनुसार इस कोश—ग्रन्थ में उन देशी शब्दों का संकलन किया गया है, जो शब्द न तो व्याकरण से व्युत्पन्न हैं, न संस्कृत कोशों में निबद्ध हैं, तथा लक्षणा शक्ति के द्वारा भी जिनका अर्थ प्रसिद्ध नहीं है। साथ ही आचार्य हेमचन्द्र ने यह भी स्पष्ट किया है कि देश—विदेश में प्रचलित ये देशी शब्द अनंत हैं, अतएव उन सभी शब्दों का संग्रह नहीं किया जा सकता है। यहाँ उन्हीं शब्दों का संकलन किया गया है, जो अनादिकाल से प्राकृत साहित्य की भाषा में और उसकी बोलियों में प्रचलित रहे हैं। इस कोश में कुछ शब्द द्रविड, कौल, मुण्डा आदि भाषाओं के भी प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से यह शब्द—कोश प्राचीन एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं के ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन के लिए बहुत उपयोगी है। इस कोश—ग्रन्थ में जिन देशी शब्दों का संकलन किया गया है, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। इन संकलित शब्दों के अनुशीलन के आधार पर उस काल के रहन—सहन, रीति—रिवाजों आदि पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। आचार्य हेमचन्द्र ने कोशगत देशी शब्दों के स्पष्टीकरण हेतु इस ग्रन्थ में उदाहरण स्वरूप जो गाथाएँ प्रस्तुत की हैं, उनका साहित्यिक सौंदर्य अद्भुत व बेजोड़ है। उनमें शृंगार रस का सुंदर निरूपण हुआ है। अन्य किसी भाषा के कोश में ऐसे सरस पद्य उदाहरण के रूप में देखने को नहीं मिलते हैं। वस्तुतः 'देशीनाममाला' समस्त भारतीय वाङ्मय में दुर्लभ शब्दों का संकलन करने वाला अनूठा एवं अपूर्व ग्रन्थ है।

## उक्तिव्यक्तिप्रकरण

प्राचीन कोश—ग्रन्थों की परम्परा में प. दामोदर शास्त्री ने 12वीं शताब्दी में उक्तिव्यक्तिप्रकरण की रचना की, जिसका दूसरा नाम **प्रयोग—प्रकाश** है। इस कोश—ग्रन्थ में इस बात को अत्यंत सरल ढंग से समझाया गया है कि किस प्रकार लोक भाषा में प्रचलित, देशी शब्द संस्कारित होकर संस्कृत रूप धारण करते हैं।

## उक्तिरत्नाकर

देश्य शब्दों के ज्ञापन के लिए 17वीं शताब्दी में जैन साधु सुन्दरगणि ने उक्तिरत्नाकर की रचना कर उक्तिमूलक शब्दों का संग्रह

किया। इस ग्रन्थ में देशी शब्दों के संस्कृत रूप तो दिये ही हैं, साथ ही ऐसे शब्द भी मिलते हैं, जो संस्कृत से गढ़े गये हैं। यथा —

मिठाई > मृष्टाटिका।

## आधुनिक कोश-ग्रन्थ

इन प्राचीन कोश-ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ आधुनिक कोश-ग्रन्थों की भी रचनाएँ हुई हैं, जिनके अध्ययन से प्राकृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

### श्री अभिधानराजेन्द्रकोश

आधुनिक प्राकृत कोशों में आचार्य विजयराजेन्द्रसूरि द्वारा विरचित अभिधानराजेन्द्रकोश अत्यंत उपयोगी कोश है। आचार्य ने पन्द्रह वर्षों के लगातार परिश्रम के पश्चात् वि. सं. 1960 में साढ़े चार लाख श्लोक प्रमाण इस विशालकाय कोश की रचना की। यह कोश-ग्रन्थ सात भागों में है, जिनमें अकारादि क्रम में 60,000 शब्दों का मूल के साथ संस्कृत में अनुवाद, व्युत्पत्ति, लिंग एवं जैनागमों के अनुसार उनके अर्थ की प्रस्तुति की गई है। कुछ शब्दों के व्याख्या क्रम में संदर्भित कथाओं का भी निरूपण किया गया है। इससे यह कोश-ग्रन्थ रोचक व सरस बन गया है। जैन आगम-साहित्य में आए पारिभाषिक शब्दों का अध्ययन करने के लिए यह कोश अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अभिधान राजेन्द्र कोश का संक्षिप्त रूप शब्दांबुधि में किया है, किन्तु यह रचना अभी अप्रकाशित है।

### अर्धमागधी कोश

यह कोश-ग्रन्थ शतावधानी मुनि रत्नचन्द्रजी द्वारा ई. सन् 1923-1938 में पाँच भागों में रचा गया है। यह महत्त्वपूर्ण कोश संस्कृत, गुजराती, हिन्दी और अंग्रेजी इन चार भाषाओं में संकलित है। इसमें यथारथान शब्दों के लिंग, वचन आदि का भी निर्देश किया गया है। शब्दों के साथ मूल संक्षिप्त उद्धरणों का भी समावेश है। आगम-साहित्य के साथ-साथ विशेषावश्यकभाष्य आदि ग्रन्थों के शब्दों का भी इसमें संकलन है।

## पाइय-सद्-महण्णवो

कलकत्ता के पंडित हरगोविन्ददास त्रिकमचंद सेठ ने 14 वर्षों के कठोर परिश्रम के उपरांत इस कोश-ग्रन्थ का सम्पादन किया है। इस कोश-ग्रन्थ में आर्ष प्राकृत से लेकर अपभ्रंश युग तक की प्राकृत भाषाओं के विविध विषयों से सम्बन्धित जैन एवं जैनेतर प्राचीन ग्रन्थों की अति विशाल शब्द राशि एवं उनके संभावित अर्थों का विवेचन किया गया है। प्रत्येक शब्द के साथ किसी न किसी ग्रन्थ का प्रमाण अवश्य दिया गया है। प्राकृत भाषा के विद्यार्थियों के लिए यह ग्रन्थ अत्यंत उपयोगी है।

## प्राकृत-हिन्दी-कोश

पाइय-सद्-महण्णवो के विषयों को संक्षिप्त कर डॉ. के.आर. चन्द्रा ने ई. सन् 1987 में प्राकृत-हिन्दी-कोश का सम्पादन किया है। अकारादि क्रम में शब्दों की संयोजना करने वाले इस ग्रन्थ में प्राकृत शब्दों के लिंग, संस्कृत रूप व हिन्दी अर्थ दिये गये हैं। लघुकाय होने के कारण यह कोश-ग्रन्थ प्राकृत के प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए अत्यंत उपयोगी है।

इनके अतिरिक्त आधुनिक कोश-ग्रन्थों में श्री जैनेन्द्र वर्णी द्वारा रचित **जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश** प्रमुख है, जिसमें जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्दों में प्राकृत के अनेक शब्दों के अर्थ उद्धरण सहित मिल जाते हैं। समणी कुसुम प्रज्ञा द्वारा सम्पादित **एकार्थक कोश**, युवाचार्य महाप्रज्ञजी द्वारा सम्पादित **देशी शब्द कोश** एवं **निरुक्त कोश** तथा डॉ. उदयचन्द जैन द्वारा सम्पादित **कुन्दकुन्द कोश** आदि प्राकृत के महत्त्वपूर्ण शब्द कोश हैं, जिनके अध्ययन से प्राकृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वर्तमान समय में प्रो. ए. एम. घाटगे ने भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना से **ए कम्प्रेहेंसिव एण्ड क्रिटिकल डिक्शनरी ऑफ द प्राकृत लैंग्वुएजेज** नाम से एक विशाल कोश का निर्माण प्रारम्भ किया है। इसके दो भाग छप चुके हैं। यह प्राकृत अंग्रेजी कोश है, जिसमें शब्दों के उद्धरण भी दिये गये हैं।



## सहायक ग्रन्थ

1. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग 5) – ले. पं. अंबालाल, प्रे. शाह, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
2. प्राकृत एवं जैनागम साहित्य – ले. डॉ. हरिशंकर पाण्डेय, श्री लक्ष्मी पब्लिकेशन कतिरा, आरा
3. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—ले. डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी
4. प्राकृत साहित्य का इतिहास – ले. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
5. प्राकृत स्वयं—शिक्षक – ले. डॉ. प्रेमसुमन जैन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
6. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान – ले. डॉ. हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद, भोपाल



## सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अणुओगदाराइं - सं. आ. महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं।
2. अपभ्रंश अभ्यास सौरभ - ले. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर।
3. अपभ्रंश : एक परिचय - ले. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर
4. अपभ्रंश रचना सौरभ - ले. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर
5. अपभ्रंश काव्य सौरभ - ले. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर
6. अपभ्रंश-साहित्य : परम्परा और प्रवृत्तियाँ - ले. डॉ. राजवंश सहाय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
7. अभिधान राजेन्द्र कोश (सात खण्ड) - ले. श्री विजयराजेन्द्रसूरि, जैन प्रभाकर यन्त्रालय, रतलाम।
8. अभिनव प्राकृत व्याकरण - ले. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी।
9. अष्टपाहुड-चयनिका - सं. एवं अं. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर।
10. अशोक के अभिलेख - ले. राजबली पाण्डेय, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी
11. प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति - ले. कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव
12. आचारांग-चयनिका - सं. एवं अ. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर।
13. आचारांगसूत्र (भाग 1, 2) - सं. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।
14. उत्तराध्ययन-चयनिका - सं. एवं अ. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर।
15. उत्तराध्ययनसूत्र - सं. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।
16. कर्पूरमंजरी - र. राजशेखर, सं. चुन्नीलाल शुक्ल, साहित्य भण्डार, मेरठ।
17. कालिदास ग्रन्थावली - सं. रेवाप्रसाद-द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
18. कुमारपाल चरित - र. आ. हेमचन्द्र, सं. एवं अ. डॉ. राजाराम जैन, डॉ. विद्यावती जैन, प्राच्यभारती प्रकाशन, आरा।
19. गाथा सप्तशती - र. हाल, अ. डॉ. हरिराम आचार्य, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर।

20. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा – ले. देवेन्द्रमुनि शास्त्री, तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर।
21. जैनागम दिग्दर्शन – ले. नगराज मुनि, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर।
22. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग 1) – ले. बेचरदास दोशी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।
23. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग – 2) – ले. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन व डॉ. मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।
24. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग – 3) – ले. डॉ. मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।
25. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग 4) – ले. डॉ. मोहनलाल मेहता एवं प्रो. हीरालाल र. कापड़िया, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।
26. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग 5) – ले. पं. अंबालाल, प्रे. शाह, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।
27. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग 6) – ले. डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।
28. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा (खण्ड 2) – ले. डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री, ज्योतिषाचार्य, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, सागर (मध्यप्रदेश)।
29. दशवैकालिक-चयनिका – सं. एवं अ. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर।
30. दशवैकालिकसूत्र – सं. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।
31. नन्दीसूत्र – सं. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।
32. नम्मयासुन्दरी कहा – र. महेन्द्रसूरि, सं. डॉ. के. आर. चन्द्र, अ. डॉ. रमणीकभाई एम. शाह, पं. रूपेन्द्रकुमार पगारिया, प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद।
33. नियमसार – र. आ. कुन्दकुन्द, सं. प. परमेष्ठीदास, टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट, जयपुर।
34. पउमचरियं – र. आ. विमलसूरि, सं. डॉ. के. आर. चन्द्रा, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद।
35. परमात्मप्रकाश व योगसार-चयनिका – सं. एवं अ. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर।
36. पाइअ-सद्-महण्णवो – ले. पं. हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी।

37. प्रवचनसार – र. आ. कुन्दकुन्द, सं. उपाध्ये, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास।
38. प्राकृत अभ्यास सौरभ – ले. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर।
39. प्राकृत एवं जैनागम साहित्य – ले. डॉ. हरिशंकर पाण्डेय, श्री लक्ष्मी पब्लिकेशन कतिरा, आरा।
40. प्राकृत गद्य-पद्य सौरभ – सं. एवं अ. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर।
41. प्राकृत गद्य-सौपान – ले. एवं सं. डॉ. प्रेमसुमन जैन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर।
42. प्राकृत धम्मपद – सं. डॉ. भागचन्द्र जैन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर।
43. प्राकृत भारती – सं. एवं अ. डॉ. प्रेमसुमन जैन, डॉ. सुभाष कोठारी, आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर।
44. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण – ले. डॉ. पिशल, अ. डॉ. हेमचन्द्र जोशी, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना।
45. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – ले. डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी।
46. प्राकृत मार्गोपदेशिका – ले. पं. बेचरदास, जीवराज दोशी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
47. प्राकृत साहित्य का इतिहास – ले. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
48. प्राकृत स्वयं-शिक्षक – ले. डॉ. प्रेमसुमन जैन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर।
49. प्रौढ़ अपभ्रंश रचना सौरभ – ले. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर।
50. प्रौढ़ प्राकृत रचना सौरभ (भाग 1) – ले. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर।
51. प्रौढ़ प्राकृत-अपभ्रंश रचना सौरभ – ले. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर।
52. भगवती आराधना (भाग-1, 2) – र. आ. शिवार्य, सं. एवं अ. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर।
53. मृच्छकटिकम् – र. शूद्रक, अ. डॉ. श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ।

54. वज्जालगं में जीवन-मूल्य - सं. एवं अ. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर।
55. वज्जालगं- र. जयवल्लभ, सं. प्रो. माधव वासुदेव पटवर्धन, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद।
56. वाक्पतिराज की लोकानुभूति - सं. एवं अ. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर।
57. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (भाग 1, 2, 3, 4) - सं. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।
58. शौरसेनी प्राकृत भाषा एवं व्याकरण - ले. डॉ. प्रेमसुमन जैन, भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली।
59. समणसुत्त-चयनिका - सं. एवं अ. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर।
60. समयसार-चयनिका - सं. एवं अ. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर।
61. समराइच्चकहा (भाग-1, 2) - र. आ. हरिभद्र, सं. एवं अ. डॉ. रमेशचन्द्र जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
62. स्वयम्भूच्छन्द - सं. प्रो. एच.डी. वेलणकर, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर।
63. हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण, (भाग 1-2) व्याख्याता- श्री प्यारचन्द जी महाराज, श्री जैन दिवाकर-दिव्य ज्योति कार्यालय, मेवाड़ी बाजार, ब्यावर।
64. हेम-प्राकृत-व्याकरण-शिक्षक - ले. डॉ. उदयचन्द्र जैन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर।
65. त्रीणि छेदसूत्राणि - सं. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।
66. ज्ञाताधर्मकथांग - सं. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।

पत्रिका

67. जिनवाणी (जैनागम साहित्य-विशेषांक 2002 अंक 1, 2, 3, 4) - सं. डॉ. धर्मचन्द्र जैन, सम्यग्ज्ञान, प्रचारक मण्डल, जयपुर।

